VISHVA–JYOTI R. N. NO. 1/ 57 ISSN 0505-7523
REGD. NO. PB-HSP-01
CURRENCY PERIOD: (1.1.2018 TO 31.12.2020)

६६,११ फरवरी २०१८

विश्वज्योति

धियो यो नः प्रचोदयात्
VISHVESHVARANAND INST.

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान

साधु आश्रम, होश्यारपुर

एक प्रति का मूल्य : १० रुपये

विशेष सूचना

यद्यपि यह सूचना पहले भी विश्वज्योति **जून-जुलाई २०१७** में दी गई है। पर कुछ एक विद्वानों के आग्रह पर पुनः सभी को सूचित किया जाता है कि

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होश्यारपुर के लिए यह बड़े हर्ष की बात है कि विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (U.G.C.), नई दिल्ली द्वारा स्वीकृत की गई शोध-पत्रिकाओं की नवीन (सन् २०१७) विस्तृत सूची में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम होश्यारपुर द्वारा प्रकाशित तीनों पत्रिकाओं (JOURNALS) का नाम आया है। वी.वी.आर.आई. नीचे दी गई ये तीनों पत्रिकाओं को-

विश्वसंस्कृतम् (संस्कृत माध्यम्) त्रैमासिक (ISSN 0975-4474)

विश्वज्योति (हिन्दी माध्यम्) मासिक (ISSN 0505-7523)

RESEARCH BULLETIN (अंग्रेज़ी माध्यम्) वार्षिक (ISSN 0975-797 X)

दीर्घकाल से प्रकाशित करता आ रहा है। इनमें संस्कृत, समाजशास्त्र, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, वेद, वेदाङ्ग, दर्शन आदि से सम्बन्धित उच्च स्तर के शोध-पत्र एवं लेख छपते हैं। इन में प्रकाशित लेख/रचनाएं प्राध्यापकों की प्रत्यक्ष नियुक्ति एवं पदोन्नति के लिए शैक्षिणक कार्य-प्रदर्शन सूचक (API SCORE) में तथा शोधछात्रों के लिए शौधकार्य यूनिवर्सिटी के नियमाधीन मान्य होंगे।

संचालक/सम्पादक

संस्थापक–सम्पादक :

स्व. पद्मभूषण आचार्य (डॉ.) विश्वबन्धु

सम्पादक:

प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल
(सञ्चालक)

उप–सम्पादक :

डॉ. देवराज शर्मा

परामर्शक–मण्डल :

डॉ. दर्शनसिंह निर्वैर
होश्यारपुर

डॉ. (श्रीमती) कमल आनन्द
चण्डीगढ़

डॉ. जगदीशप्रसाद सेमवाल
होश्यारपुर

डॉ. (सुश्री) रेणू कपिला
पटियाला

शुल्क की दरें

आजीवन (भारत में)	:	१२०० रु.	आजीवन (विदेश में)	:	३०० डालर
वार्षिक (भारत में)	:	१०० रु.	वार्षिक (विदेश में)	:	३० डालर
सामान्य अङ्क (भारत में)	:	१० रु.	सामान्य अङ्क (विदेश में)	:	३ डालर
विशेषाङ्क (एक भाग भारत में)	:	२५ रु.	विशेषाङ्क (एक भाग विदेश में)	:	६ डालर

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम,
होश्यारपुर–146 021 (पंजाब, भारत)

दूरभाष : कार्यालय : 01882–223581, 223582, 223606
सञ्चालक (निवास) : 01882–224750, प्रैस : 231353

E-mail : vvr_institute@yahoo.co.in
Website : www.vvrinstitute.com

विषय-सूची

लेखक	विषय	विधा	पृष्ठांक
श्री हरवंश लाल कपूर	वेद	कविता	२
डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स	वैदिक संस्कृति और आर्य इतिहास	लेख	३
श्री बाबूलाल शर्मा प्रेम	घर सारा संसार	कविता	७
प्रो. रजनी अरोड़ा	समाज व मानव उत्थान के हितैषी: गुरु गोबिन्द सिंह जी	लेख	८
श्री अखिलेश निगम 'अखिल'	संदेश	कविता	१०
डॉ. भावना सोनी	वेदों में वनस्पति-संरक्षण की अभ्यर्थना	लेख	११
डॉ. हरिदत्त ग्वाड़ी	स्वामी विवेकानन्द का वैदिक चिन्तन	लेख	१४
सुश्री स्नेहलता	गीता में विषय-चिन्तन के परिणाम की शिक्षा	लेख	१७
डॉ. दयानिधि शर्मा	गौतम बुद्ध का मानवतावाद	लेख	१९
श्री रामचरण यादव बैतूल	आत्म विश्वास	लेख	२१
सुश्री रितु गुप्ता	भारतीय नारी का स्वरूप, दायित्व एवं समस्याएँ	लेख	२२
डॉ. दिनेश प्रसाद तिवारी	गीता का दिव्य जीवन-दर्शन	लेख	२५
श्री वीरेन्द्र नाथ भार्गव	भारत देश का नामकरण	लेख	२९
डॉ. सरिता यादव	आधुनिक उपन्यास द्वासुपर्णा में भारतीय संस्कृति	लेख	३१
डॉ. पुष्पेन्द्र जोशी	न्यायदर्शन में प्रमाणमीमांसा	लेख	३५
श्री कमल किशोर	वेद तथा वसुधैव कुटुम्बकम्	लेख	३८
सुश्री सलोनी	वेदों में धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र परक मूल-तत्त्व	लेख	४०
सुश्री किरन त्रिपाठी	श्रीमद्भागवत पुराण में वर्णित 'सृष्टि तत्त्व'	लेख	४२
श्री कर्मवीर	महाकवि भवभूति का औचित्य-विवेक	लेख	४४
	संस्थान-समाचार		४७
	विविध-समाचार		४८
	पुण्य-पृष्ठ		४९-५०

विश्वज्योति

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरागात्॥ (ऋ. १,११३,१)

वर्ष ६६ होश्यारपुर, माघ २०७४; फरवरी २०१८ संख्या ११

यद्देवा देवहेडनं देवासश् चकृमा वयम्।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयम् ऋतस्यर्तेन मुञ्चत।।

(अथर्व. ६.११४.१)

(देवाः) हे देवताओ! (वयम्) हमने (यद्) जो तुम्हारा (देवहेडनं) अपमान (चकृमा) किया है (उस पर हम अब पछताते हैं)। (आदित्याः) हे आदित्यो! (यूयम्) तुम अपने (ऋतस्यर्तेन) परम सत्य के द्वारा (नः) हमें (तस्मात्) उस (पाप संस्कार) से (मुञ्चत) छुड़ाओ।

(वेदसार-विश्वबन्धुः)

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च।।

(श्वेताश्वतरीपनिषद्, ३.१८)

संपूर्ण स्थावर और जंगम जगत् को वश में रखने वाला प्रकाशमय परमेश्वर नौ द्वार वाले शरीररूपी नगर में अन्तर्यामी रूप से हृदय में स्थित देही है। वही परमेश्वर बाह्य जगत् में भी लीला करने वाला है।

वेद

-श्री हरवंश लाल कपूर

वेद ज्ञान सूरज की किरणे, वेद अमृत के मीठे झरने।
अंधकार में करे उजाला, भर लो आत्मतृप्ति प्याला।।

रोम रोम में नई चेतना, देव दयानन्द भरने वाला,
जन ज्ञान का हितकारी स्वामी, ईश उपासना करने वाला।।

ऋचा ऋचा के सत्यार्थ प्रकाश का, मर्म उजागर करने वाला।
जड़ पूजा का कड़ा विरोधी, प्राण न्यौछावर करने वाला।।

श्रेष्ठ गुणों को धारण करके, आर्य वीर संवरने वाला।
सीना तान के सामने आया, मृत्यु से मूल न डरने वाला।।

ईश्वर के निज नाम ओ३म् का, मनन निरन्तर करने वाला।
वैदिक धर्म की सत्य कीर्ति, जग प्रचारित करने वाला।।

त्याग और तप से तेज बढ़ाकर, मानव सेवा करने वाला।
कष्टों की परवाह न करता, धर्म की राह पर चलने वाला।।

भगवान छोड़ पाषाण न पूजो, यज्ञ है यौवन भरने वाला।
ब्रह्म वर्चस्व प्रकाश निहारो, नहीं ब्रह्म रंग उतरने वाला।।

सत्य ज्ञान के विद्यासागर, अमृतमंथन करने वाला।
योगाभ्यास की धर्मसभा में, ईश्वरदर्शन करने वाला।।

स्वार्थ रहित ऋषि परोपकारी, दु:खियों के दु:ख हरने वाला।
अंधकार में करे उजाला, भर लो आत्मतृप्ति प्याला।।

-सहमन्त्री, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, मन्दिर मार्ग, नई दिल्ली-११०००१

वैदिक संस्कृति और आर्य इतिहास

– डॉ. सत्यपाल श्रीवत्स

(गताङ्क से आगे)

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि वैदिक संस्कृति ने विश्वबन्धुत्व की भावना स्थापित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। पारस्परिक सहयोग, सहानुभूति, प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव, कल्याणभाव तथा मित्रता का भाव वस्तुतः इस अमर संस्कृति के केन्द्रीय भाव हैं। ऋग्वेद के एक मन्त्र द्वारा वैदिक ऋषि अपने समाज के लोगों को मिलकर रहने, एक साथ पढ़ने, एक साथ मन्त्रणा करने तथा देवों के समान एक साथ अपना-अपना भाग प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।[११] अन्यत्र वैदिक ऋषि अपने यजमान को उपदेश देता हुआ कहता है- तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो, मन एक हो और तुम सब मिलकर एक साथ रहो।[१२]

वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें राष्ट्रीय भावना[१३]- पारस्परिक सहयोग, मित्रता तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना से अनुप्राणित पवित्र भाव अभिव्यक्त होते हैं, जिससे मनुष्य घृणा, द्वेष, शत्रुता आदि बुराइयां भूलकर उदारमना होकर विश्वबन्धुत्व की ओर प्रेरित होता है।[१४]

यजुर्वेद में पारस्परिक सहयोग की भावना विश्वबन्धुत्व भाव को प्रदर्शित करने वाले मन्त्र इसी के उदाहरण हैं। जैसे-

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते-दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते।[१५]

अन्यत्र सामवेद में ऋषि द्वारा सारे समाज के लिए कल्याण की चाह अभिव्यक्त की गई है:-

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषाः विश्वदेवाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

वैदिक ऋषियों ने अपने समकालीन समाज को जहां विश्वबन्धुत्व की भावना का पाठ पढ़ाया था वही उसे समाजवादी आदर्श पर चलाने का भी प्रयत्न किया था। निस्सन्देह वैदिक ऋषियों ने तत्कालीन समाज को जो समाजवाद का पाठ पढ़ाया था। उससे सारा समाज एक विशाल परिवार के समान प्रतीत होता था। वैदिक समाज की इस प्रकार की परिकल्पना ही संगठित राष्ट्र की नींव तथा शक्तिशाली राष्ट्र के निर्माण का दृढ़ संकल्प था।

तत्कालीन साहित्य से ज्ञात होता है कि उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष १६ जनपदों में बंटा हुआ था और उनके बीच वैमनस्य तथा शत्रुता का भाव न जागने पाए इसी बात को सामने रख कर ही ये नियम बनाए गए थे।

उपनिषद्कालीन ऋषियों ने राष्ट्रीय एकता के भाव को और अधिक उदार एवं कारगर बनाकर समाज के सन्मुख उपस्थित किया था। यही कारण है कि 'ईशावास्योपनिषद्' में ईश्वर की सर्वव्यापकता तथा विश्व के प्रति मानव की त्यागभावना की विशद व्याख्या की है।[१६]

---

११. ऋ. १०/१९१/२ १२. ऋ. १०/१९१/४ १३. अथर्व. ५/१९/६
१४. ऋ.६/७५/१४, १०/१७७/६, १७/१/७, ३/६/३०, ३/३०/४, ३/३०/५०६, १२/१/५८, वे. ३६/१८
१५. यजु. ३/५० १६. ईशावास्योपनिषद्. १.१.

वैदिक संस्कृति में प्रगतिवादी दृष्टिकोण-

वैदिक संस्कृति का सब से उत्तम गुण है इसका प्रगतिवादी दृष्टिकोण। वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक उल्लेख आते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वैदिककालीन समाज सदा भविष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिए प्रयत्नशील रहता था। जीवन को सुखी, समृद्ध तथा उन्नतिशील बनाने के लिए वेदकालीन समाज के लोग सदा जागरूक रहते हुए दिखाई पड़ते हैं।[१७] वैदिकऋषि कहता है- उन्नतिशील व्यक्ति को सदा जागरूक रहना चाहिए।[१८] ऐतरेय ब्राह्मण के एक सन्दर्भ के अनुसार महत्वाकांक्षी व्यक्ति की परमेश्वर सदा सहायता करता है।[१९] वैदिककालीन समाज को हीनभावना तथा दैन्यभाव से घृणा है।[२०] इस समाज के लोग प्रकृति के प्रत्येक तत्व से सुख, कल्याण तथा दीर्घायुष्य की कामना करते हुए दिखाई पड़ते हैं। वैदिककालीन आर्य समाज में दीर्घ-जीवन की उत्कट आकांक्षा और जीवन के प्रति जागरूक भावना रखने के अनेक उदाहरण मिलते हैं।[२१] इसी प्रकार वैदिककालीन मानव उत्तम स्वास्थ्य तथा पाषाण के समान शक्तिशाली एवं हृष्ट-पुष्ट शरीर की उपलब्धि के लिए प्रार्थना करता हुआ दिखाई पड़ता है।[२२]

इस से यह भी प्रतीत होता है कि वैदिक-कालीन आर्य बड़े महत्वाकांक्षी, प्रगतिवादी, उत्साही, साहसी, संघर्षशील तथा कर्मठ थे। अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए वे सदा शक्ति जुटाते थे। इसीलिए बड़े से बड़े शक्तिशाली शत्रु को भी पराजित करने के लिए उनमें अदम्य उत्साह था।[२३] वैदिक आर्यों के इस धर्म-प्रधान प्रगतिवादी दृष्टिकोण ने ही इस देश में वह उर्वर भूमि तैयार की जिस पर बहु-आयामी भारतीय संस्कृति का वह अश्वत्थ वृक्ष पनपता गया जिसकी अनेक शाखाएं होते हुए भी वह मूलतः एक ही रहा। **एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति** इत्यादि मन्त्र इसी ओर संकेत करते हैं।

वैदिक आर्यों का यह मानवतावादी दृष्टिकोण ही था जिसने उन्हें इस धरती पर फलने-फूलने के अवसर प्रदान किये। जीवन के प्रति जागरूक भावना अपनी वंशपरम्परा को आगे बढ़ाने की उत्कट आकांक्षा (प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेदसीः) ने वैदिक आर्यों को इस कर्म-भूमि में विभिन्न दिशाओं की ओर अग्रसर होने के लिए सदा प्रेरणा दी। अपने शत्रुओं को बड़े साहस तथा वीरता से पराजित कर सोलह जनपदों के रूप में स्थापित किया। उनके त्याग, तपस्या तथा ज्ञान प्रधान दृष्टिकोण ने वैदिक संस्कृति को अमरता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण ने ही उन्हें भारत में विदेशी आक्रान्ताओं या आगन्तुकों के साथ आई विदेशी संस्कृतियों को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता प्रदान की। यही कारण है कि प्राचीनकाल में पारस्परिक विरुद्ध मतावलम्बी बृहस्पति, भृगु, चार्वाक, वशिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, गौतम, कृष्णद्वैपायन, जैन-तीर्थंकर, महात्मा बुद्ध जैसे विचारकों को एवम् उत्तरवर्ती मुस्लिम, पारसी

---

१७. ऋ. १/३६/१४, ६/५/२५; ३/७५, ९/११३/११ — १८. यजु. ३०/१७ — १९. ऐ.ब्रा. ७/१५

२०. यजु. ३६/२४ — २१. वही, ३६/२४ — २२. यजु. २९/४९

२३. ऋ. १०/१२८/११

तथा क्रिश्चियन धर्म के प्रचारकों को अपने-अपने विचारों को केवल प्रकट करने का ही अवसर नहीं मिला अपितु उनको प्रचार करने का अवसर भी प्राप्त हो गया।

वैदिक-आर्यों की आर्थिक अवस्था-

वैदिक साहित्य के अध्ययन से तत्कालीन शिल्पों तथा व्यवसायों के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। उनके बारे में ऋग्वेद में वक्ता (१०/१४२/४) रथकार या बढ़ई (१/१६/४, ७/३२/२०, ९/११२/१, १०/११९/५, ८/१०२/८) भिषक् या वैद्य (९/११२/१) कर्मार, लोहार (४/२/१७, १०/७२/२, ९/११२/२) तथा चर्मकार, व्याध (८/५/३८) आदि तथा अथर्ववेद में- रथकार (३/५/६) लोहार, सुनार (३/५/६) सूत (सारथी) (३/५/७), तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/४/१), काठक संहिता (१७/१४) तथा तैत्तिरीय संहिता (४/५/४) में क्षत्ता द्वारपाल, चंवर डुलानेवाला, संग्रहीता (कोषाध्यक्ष) तक्षा, बढ़ई (रथ बनाने वाला) कुलाल (कुम्हार), कर्मार (व्याध) (३/५/६) निषाद, इषुकृत् (धनुष्कार), श्वनि (शिकारी, कुत्तों का वाहक) मृगयु (शिकारी) आदि के बारे में जानकारी मिलती है। साथ ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में- मगाथ (भाट), कितव (जुआरी), सूत, शैलूष (नट, नर्तक) भीमल, रथकार, तक्षा, कौलाल, कर्मर, मणिकार, इषुकार, ज्याकार (प्रत्यञ्चा-निर्माता), रज्जुसर्ग, मृगयु, श्वनि, सुराकार, अवस्ताप (लोहार), विदलकार आदि व्यवसायों का वर्णन तो मिलता है इसके अतिरिक्त कृषिकर्म, पशुपालन, चर्म-व्यवसाय, वाणिज्य आदि का भी प्रचलन था। रथ निर्माण जैसे बड़े-बड़े उद्योगों के अतिरिक्त[२४] गृह शिल्प तथा कुटीर, चर्म उद्योगों का भी तथा धातु आदि उद्योग उन्नत हो चुके थे।[२५] इसके अतिरिक्त अकेले वस्त्रउद्योग के विषय में अनेक उल्लेख मिलते हैं, विशेषकर सूती वस्त्रों[२६] तथा ऊन्नी वस्त्रों[२७] के उत्पादन तथा उनके उद्योगों के पृथक्-पृथक् उल्लेख के साथ-साथ उसमें काम आने वाली मौलिक सामग्री (कच्चे माल) का भी वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है।[२८]

धातु-उद्योग में लोगों को सोना, चांदी, तांबा, लोहा, विभिन्न मणियां तथा मोती आदि धातुओं तथा रत्नों की पर्याप्त जानकारी हो चुकी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सुवर्ण की अपेक्षा चांदी का अधिक प्रचलन था। ऋग्वेद में विशेषकर सुवर्ण के आभूषण तथा सिक्कों के बारे में उल्लेख आता

२४. ऋ. ३/६१/२, १०/८२/२, ४/२/८, १०/९३/१४, १/१२२/५, अथर्व. ६/१३७/२, १५/२/६, वा.सं. ३४/६/, श.ब्रा. ५/४/१४, १/१/३/१२

२५. ऋ. ६/४७/२६, १०/१०२/२, ८/५६/३, १०/१३६/२, ऐ.ब्रा. ५/३२, श.ब्रा ५/४/३/१९, ३/९/१/१२, ५/२/१/१२/१४, ते.सं. ५/४/४/४.

२६. अथर्व. १/३४/१, तै.सं. ६/१/९/७, वा.सं. २/३२। ऐ. ब्रा. १/३

२७. ऋ. ८/८६/१२, ४/२२/२, ५/५/४, श.ब्रा. १२/५/१/१३, वा.सं. १३/५० एवं द्रष्टव्य ऋ.वे., १०/२५/६, २/३/६, १०/१०६/१, ६/९/२३, १०/२६/६, ४/१६/७, ७/१४/११, १०/१/६

२८. ऋ. ६/९/२,३, १०/२६

है। घरों के निर्माण तथा प्रसाधन कार्य में भी उस समय सुवर्ण का प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद में सिन्धु नदी को इसीलिए स्वर्णमयी, स्वर्णधारा, हिरण्यवर्तिनी, हिरण्मयी आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। ऋग्वेद में पृथ्वी के गर्भ से स्वर्ण निकालने के बारे में भी उल्लेख आता है।

वाजसनेयि संहिता में जिन छह धातुओं की सूची दी गई है वे इस प्रकार हैं- स्वर्ण, अयस्, श्याम-लोह, सीसा और टिन[३३] आदि तथा समाज में प्रचलित स्वर्ण, हीरा, कांसा, लौह, ताम्र, सीसा तथा रांगा आदि धातुओं के व्यावसायिक उपयोग का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन आर्य तथा अनार्य, स्वर्ण, हीरा, कांस्य, लोह, ताम्र, चांदी, सीसा, रांगा आदि धातुओं का स्वयं उपयोग करने के अतिरिक्त इनका अन्य देशों के साथ व्यापार भी करते थे।

वैदिक साहित्य हमें आर्यों के प्रमुख व्यवसाय कृषि-कर्म की भी पर्याप्त सूचना देता है। वस्तुतः कृषि-कर्म ही वैदिक आर्य-समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी था। इस व्यवसाय को अपनाना उस समाज में सम्मान का विषय माना जाता था। ऋग्वेद के एक उल्लेख के अनुसार लगभग ९९ प्रतिशत आर्य जनों द्वारा कृषि व्यवसाय को अपनाने के उल्लेख मिलते हैं।

वैदिक आर्यों की कृषि-प्रधान संस्कृति-

वैदिक काल में जो बुद्धिजीवी वर्ग था तथा ऋषि-मुनि समाज था वे सब भी अपनी उत्कट इच्छा से अपने समकालीन समाज को कृषिकर्म करने के लिए सतत प्रेरणा देते रहते थे।

यहां यह तथ्य भी उल्लेख्य है कि वैदिक आर्यों ने कृषि-व्यवसाय को वैज्ञानिक पद्धति पर भी विकसित करना आरम्भ कर दिया था और इस क्षेत्र में पर्याप्त विकास भी कर लिया था। ऋग्वेद बंजर-भूमि के बारे में भी जानकारी देता है। इसीलिए उन्होंने कृषियोग्य भूमि की परीक्षा करके उसके अनेक भेद स्पष्ट किये थे और तदनुसार भूमि के स्वामित्व, उत्तराधिकार आदि के विषय में भी अनेक नियम निर्धारित किये थे। उन्होंने यहां विभिन्न प्रकार की फसलें उत्पन्न करने के लिए भूमि-परीक्षण कर लिया था वहां सुचारू रूप से कृषि-कार्य करने के लिए हंसिया, जुआढ़, गाड़ी, नाद, गोशाला, प्रस्थर, कुठार, लोहदात्र (वसूला) आदि अनेक प्रकार के उपकरणों का आविष्कार भी कर लिया था तथा कृषिकार्य की अन्य विधियां भी विकसित कर ली थीं।

अथर्ववेद हमें अनाज की सुरक्षा तथा संभाल एवं सफाई आदि की भी पर्याप्त जानकारी देता है।

यदि लिखा जाय कि वैदिक-संस्कृति का कृषि-व्यवसाय उसकी जीवनी-शक्ति थी तो अत्युक्ति नहीं होगी। यद्यपि वैदिक संस्कृति की आत्मा आध्यात्मवाद तथापि कृषि उसकी जीवनीशक्ति है। क्योंकि कृषि वैदिक आर्यों का मुख्य व्यवसाय था। तथापि कृषि-व्यवसाय के प्रति इतने आदरभाव के कारण ही वैदिक आर्यों के द्वारा कृषिकर्म की प्रधान आधार 'भूमि' को माता समझा जाता था, जैसा कि इस विषय में पूर्व संदर्भ में चर्चा भी की जा चुकी है।

कृषि-कार्य के प्रति आर्यों की इतनी

सम्मान भावना के ऋग्वेद में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

यहां यह भी उल्लेख है कि उस समय भूमि की सिंचाई के लिए किये गये प्रबन्धों के बारे में भी ऋग्वेद पर्याप्त जानकारी देता है। नलकूपों के निर्माण, उनकी मरम्मत तथा व्यवस्था तथा उनके जल के द्वारा सिंचाई के प्रबन्ध के बारे में भी ऋग्वेद के कई मन्त्र पर्याप्त जानकारी देते हैं।

अतः लिखा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति की सुरसरिता की अमरधारा भारतीय समाज की वह अमर विरासत है जो वैदिक काल से ही हमें जीवनी प्रदान करती आ रही है।

-४७/५ रूपनगर कालोनी, जम्मू-तवी-१८००१३

घर सारा संसार

-श्री बाबूलाल शर्मा प्रेम

जन-जन में हो प्रेम परस्पर, मन में पर-उपकार हो।
कितना अच्छा हो यदि अपना, घर सारा संसार हो।।

कोई बड़ा न छोटा कोई, एक समान विचार हो।
मानवता का सारे जग में, एक बड़ा परिवार हो।।

शस्य-श्यामला धरती अपनी, खुशियों का आगार हो।
यही कामना है अंतर में, यहां जन्म सौ बार हो।।

कोई नहीं पराया सबसे, अपनों सा व्यवहार हो।
जलें न आशायें अब और, न रिश्तों का व्यापार हो।।

-इंद्रपुरी, पो०-मानस नगर, लखनऊ-२२६०२३ (उ०प्र०)

समाज व मानव उत्थान के हितैषी: गुरु गोबिन्द सिंह जी

– प्रो. रजनी अरोड़ा

मुगलशासन काल में समाज की व्यवस्था अस्त-व्यस्त थी, शासकों द्वारा साधारण जनता पर अनेक प्रकार के अत्याचार किए जाते थे, जिस कारण समाज की स्थिति हीन थी। ऐसे में किसी महान् व्यक्ति के द्वारा सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता थी। ऐसे समय में श्री गुरु गोबिन्दसिंह जी का प्रादुर्भाव हुआ जब भारत में मुगल बादशाह औरंगजेब का शासन था। जो भारतीय जनता पर बहुत जुल्म करता था। उस समय भारतीय समाज में बहुत-सी कुरीतियां और असमानताएं थीं। ऐसे में गुरु जी ने धर्म, संस्कृति, समाज व राष्ट्र की आन-बान और शान के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया।

१६७४ ई. में कश्मीर के गवर्नर ने औरंगजेब के हुकुम से हिन्दुओं को जबरन मुस्लिम बनाना शुरु किया। जो व्यक्ति मुस्लिम बनना अस्वीकार करता, उसे दण्डित किया जाता था। उस समय गुरु जी ने लोगों का मार्गदर्शक बन कहा कि जुल्म को सहने की अपेक्षा जुल्म का डट कर सामना करना चाहिए। तभी समाज और धर्म की रक्षा की जा सकती है। इसके साथ ही वे जनसाधारण को निर्भय रहने का उपदेश दिया करते थे-

भय काहू कउ देत नहि नहि भय मानत आनि।
कह नानक सुन रे मना ज्ञानी ताहि बखानि।[1]

बस, न किसी से डरो, न किसी को डराओ, प्रत्येक को अपने समान समझो और स्वयं समानता से जीवन व्यतीत करने का ढंग सीखो।

गुरुजी ने समाज को परिश्रमी बनने के लिए भी उत्साहित किया। नाम के महत्त्व पर बल देते हुए उन्होंने कहा है कि सच्चे ब्रह्म का नाम स्मरण करने पर ही मानसिक विकारों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है-

उदमु करत मनु निरमल होआ।
हरि मारगि चलत भ्रमु सगला खोइआ।
नामु निधानु सतिगुरू सुणाइआ,
मिटि गए सगले रोग जी।[2]

गुरु गोबिन्दसिंह जी की समाज के विकास में रूचि थी। वे जीवनपर्यन्त उच्च व निम्न के अन्तर को दूर करने के लिए भी प्रयत्नशील रहे, समाज में चल रही अलग-अलग जातियों में भेदभाव को दूर करने के साथ-साथ यह संदेश दिया कि सब जाति के लोग बराबर हैं और कोई भी व्यक्ति निम्न या उच्च नहीं। एक बार आनन्दपुर में एक कलाल आया। वह कलाल अपने निम्न जाति के कारण गुरु साहिब के पास आने से झिझक रहा था। गुरु जी ने कहा ''भाई आओ! तू कलाल नहीं गुरु का लाल है।''[3] इस प्रकार गुरु जी निम्न जातियों को वही दर्जा देते थे, जो उच्च जाति को उनके दरबार में प्राप्त था।

१६७५ ई. में गुरु जी के पिता गुरु तेग बहादुर जी का दिल्ली चांदनी चौक में वध किया

१. गुरु गोबिन्दसिंह जी ; सोहण सिंह 'सीतल', पृ. ६८ २. श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ ; भाई संतोखसिंह ; पृ. ५२५

३. History of The Punjab ; Gurcharan Singh and S.S. Gandhi, P. 292

गया तब जैतो नाम का रंगरेट (महजबी सिक्ख) गुरु तेगबहादुर का शीश दिल्ली से लाया। तो गुरु साहिब ने बिना किसी संकोच के उसको अपनी भुजाओं में ले लिया और कहा - "रंगरेटे गुरु के बेटे।"[४] अर्थात् गुरु साहिब की दृष्टि में इन लोगों का वही स्थान है जो उनके पुत्रों का। एक बार गुरु साहिब को पण्डितों ने शूद्रों का साथ छोड़ने के लिए कहा। गुरु साहिब ने उत्तर दिया कि जो कुछ वे हैं, "वह भगवान् की ही कृपा से हैं।"

गुरु गोबिन्दसिंह जी द्वारा १६९९ में खालसा-पंथ की स्थापना की गई। खालसा शब्द शुद्धता का पर्याय है अर्थात् जो मन, वचन और कर्म से शुद्ध हो और समाज के प्रति समर्पण का भाव रखता हो, वही खालसा-पन्थ को स्वीकार कर सकता है। उन्होंने पाँच प्यारों को तैयार किया। पाँच प्यारे देश के विभिन्न भागों से अलग-अलग जाति के पाँच बहादुर लोग थे, जिन्हें एक ही कटोरे से अमृत पिलाकर समाज के बीच समानता और आत्म-सम्मान की भावना को जागृत किया और उन्हें एकता के सूत्र में बांधने की कोशिश की। उन्होंने कहा, "मनुष्य की जाति सभी एक है"-[४]

वाह वाह गुरु गोबिन्दसिंह आपे गुरु चेला।[५]

श्री गुरु गोबिन्दसिंह "खालसा' को बड़ा उच्च स्थान देते थे, गुरु साहिब ने अपने आपको 'खालसा' और खालसा को अपना स्वरूप समझा। गुरु साहिब जनता को ही रचनात्मक वृत्तियों का स्रोत समझते थे और अपने आपको जनता की ही देन मानते थे। उनका कथन है:-

खालसा मेरे रूप में खास,

खालसे में हों करों निवास।[६]

गुरु साहिब संगठित जीवन के समर्थक थे। वे किसी व्यक्ति को गुरु मानने की प्रथा को समाप्त करना चाहते थे और सिक्ख समाज को श्री गुरु-ग्रन्थ-साहिब के अधीन गुरु का दर्जा देना।

इतना ही नहीं, उन्होंने लोगों के भ्रम को पूर्णरूप से नष्ट करने के लिए स्पष्ट एवं प्रभावशाली शब्दों में यह कहा कि वे साधारण जनता के समान एक साधारण मनुष्य हैं और उनमें कोई देवी-शक्ति नहीं थी।[७] इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि यदि कोई उन्हें परमात्मा कहेगा वह दोषी होगा। इस प्रकार वह सम्पूर्ण मानव जाति को सही मार्ग पर चलने का संदेश देते हैं।

गुरु साहिब एक महान् राष्ट्र-निर्माता थे। उन्होंने गुरु नानक देव जी के राष्ट्र-निर्माण के कार्य को पूर्णता प्रदान की। गुरु नानक देव जी देश के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में परस्पर सहनशीलता की भावना पैदा करने में प्रयत्नशील रहे। गुरु नानक देव जी के उत्तराधिकारी भी उनके लक्ष्य को कार्यरूप में परिणत करने में लगे रहे। राष्ट्रनिर्माण का काम अधिकतर गुरु गोबिन्दसिंह जी ने ही किया। वे एक बहुत बड़े दार्शनिक थे। उन्होंने एक ढंग से अमृतपान करवा कर अपने अनुयायियों में मनोवैज्ञानिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। फिर उनमें एकता की भावना उत्पन्न करने के लिए अनेक यत्न किये।

अपने इस मनोरथ को फारसी शब्दों में भी

---

४. History of The Punjab ; Gurcharan Singh and S.S. Gandhi, P. 292   ५. गुरु गोबिन्दसिंह ; हरबंस सिंह

६. History of The Punjab ; Gurcharan Singh and S.S. Gandhi, P. 292   ७. वही, पृ. २९२

व्यक्त किया है जिसका भावार्थ है "मुझे उस हरे रंग की नाम रूपी मदिरा की आवश्यकता है, जिसका पान करके मुझ में वे गुण उत्पन्न हो जाएँ कि मै कीचड़ में गिरे हुए मोती को निकाल लाऊँ।"[८]

इसके अतिरिक्त गुरु जी ने सिक्खों के सम्मुख बहुत ऊँचा आदर्श अर्थात् सब का कल्याण दुष्टों का दमन तथा सन्तों का परित्राण रखा। इन प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ कि गुरु गोबिन्दसिंह ने एक पृथक् 'जाति' उत्पन्न कर दी, जिसमें संगठित जीवन और सबकी भलाई की भावना प्रधान थी। हम कह सकते हैं कि गुरु गोबिन्दसिंह जी एक समाज-सुधारक थे, समाज को नवीन दिशा देकर उन्होंने अनेक प्रकार की कुरीतियों का दमन किया, समाज को स्वतन्त्र सोच तथा स्वतन्त्र जीवन प्रदान किया। जिसकी आवश्यकता तब के समाज के लिए तो थी ही लेकिन ऐसी सोच की आवश्यकता आज भी प्रासंगिक है।

-समाजशास्त्र विभाग, गुरु गोबिन्दसिंह खालसा कॉलेज, माहिलपुर (होशियारपुर)।

८. History of The Punjab; Gurcharan Singh and S.S. Gandhi, P. 293

संदेश

-श्री अखिलेश निगम 'अखिल'

नशा-नशीली वस्तु से, 'अखिल' रहें नित दूर।
सबके होंगे आप प्रिय, प्यार मिले भरपूर।।
जो नर करता है नशा, मरता बारम्बार।
हेय दृष्टि से देखते, देते सब दुत्कार।।
नशा नाश तन का करे, पीढ़ी को बरबाद।
'अखिल' नशे को छोड़िए, रहें सदा आबाद।।
नशे की लत में जो पड़ा, हुआ सभी कुछ नाश।।
बीबी-बच्चे रो रहे, चलती केवल श्वास।।
करो आत्म-संकल्प अब, नशे को देंगे त्याग।
स्वप्न पूर्ण होंगे 'अखिल', उठो मनुज! अब जाग।।

-पुलिस अधीक्षक, उ०प्र० सतर्कता अधिष्ठान, टी.सी.वी.-४४ विभूति खण्ड, गोमती नगर, लखनऊ।

वेदों में वनस्पति-संरक्षण की अभ्यर्थना

-डॉ. भावना सोनी

भारतीय संस्कृति मूलतः आरण्यक-संस्कृति रही है। जन्म से ही मनुष्य का नाता प्रकृति से जुड़ा हुआ है। इसी कारण प्रकृति की आराधना तथा पर्यावरण का सरंक्षण करना हमारा प्राक्तन भारतीय चिंतन हैं। वेदों को सृष्टि-विज्ञान का सबसे प्राचीन तथा आदिग्रंथ माना गया है। इनमें जगत् के जीवनदायी तत्त्वों की विशेषताओं का काफी सूक्ष्म व विस्तृत वर्णन है। जब जीवनदायी तत्त्वों की शुद्धता सुरक्षित होगी तभी जीवन भी शुद्ध और सुरक्षित रह सकेगा। पेड़-पौधे और वन मनुष्य के जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी हैं, जिनका उपयोग वह आदिकाल से करता आ रहा है। हमारे ऋषि तथा मुनियों को वृक्षों और वनों के महत्त्व की अनुभूति थी, जिसके कारण उन्होंने उन्हें धर्म में सम्मिलित करके मनुष्य द्वारा उनके संरक्षण पर बल दिया।

पर्यावरण में प्रमुखतः दो तरह के तत्त्व विद्यमान हैं- (१) जैव (२) अजैव। जैवसमूह में वनस्पति, जीव-जन्तु, मानव तथा सूक्ष्म जीव आते हैं। हमारे धर्मशास्त्रों में वनस्पतियों को देवों का स्थान प्राप्त है। सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में उनकी स्तुतियां की गई हैं-पीपल, वट, आंवला, तुलसी, केला आदि पेड़-पौधे ईश्वर की भाँति पूजित हैं।[१]

हिन्दूधर्म में प्रकृति-पूजन को प्रकृति-संरक्षण के तौर पर मान्यता प्राप्त है। वैदिकधर्म के संबंध में एक बात दुनिया मानती है कि वह 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत पर आधारित है। वैदिकधर्म का सह-अस्तित्व का सिद्धांत ही उनको प्रकृति के प्रति अधिक संवेदनशील बनाता है। भारत में पेड़-पौधों, नदी-पर्वत, ग्रह-नक्षत्र, अग्नि-वायु सहित प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ मानवीय रिश्ते जोड़े गए हैं। यहां तक कि वृक्षों की तुलना संतान से की गई है।[२]

वैदिक-संस्कृति में वृक्ष को देवता मानकर पूजा करने का विधान है। वृक्षों की पूजा के कारण हिन्दू स्वभाव से वृक्षों का संरक्षक हो जाता है। वृक्षों को देवताओं के प्रतीक रूप में उपस्थापित कर सश्रद्ध भाव से उनकी विधिवत् पूजा-अर्चना तथा सुरक्षा के जो नियम शास्त्रीय व लौकिक परंपरा में प्रतिपादित हैं, वे पर्यावरण-रक्षक वर्तमान कानूनों के पूर्वज तो कहे ही जा सकते हैं। भारतीय ऋषियों-महाऋषियों ने वृक्षों के प्रति अगाध अनुराग भावना प्रदर्शित की है। यहां पर वृक्ष पूजा के साथ साथ वनों की भी पूजा हुआ करती थी।[३]

मनुष्य जन्म से ही प्रकृति की गोद में अपना विकास व जीवन व्यतीत करता रहा है। पेड़-पौधे मानव-जीवन के लिए प्रकृति के अनूठे वरदान हैं। वैदिक ऋषि जानते थे कि पृथ्वी का आधार जल और जंगल है। इसलिए उन्होंने पृथ्वी की रक्षा के लिए वृक्ष और जल को महत्वपूर्ण

१. ऋग्वेद-मं-७ २. हिन्दुदर्शन ३. ऋ. ७/३४/२५

मानते हुए कहा है- **यज्ञाद् भवति पर्जन्यः पर्जन्यादन्नसम्भवः।**[४] अर्थात् यज्ञ से जल है, जल से अन्न है, अन्न से जीवन है। जंगल को हमारे ऋषि आनंददायक कहते हैं- **अरण्यं ते पृथिवी स्योनमस्तु।**[५]

वेद ही ऐसे सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं जो वनस्पति का महत्त्व जनसामान्य को बताते हैं। ऋग्वेद का अप्सूक्त तथा अथर्ववेद का भूमिसूक्त स्पष्ट ही इस ओर मानव को प्रेरित करते हैं कि वनस्पति लगाओ और उसे बचाओ क्योंकि ये जलस्रोतों की रक्षा करते हैं।[६] यजुर्वेद पृथ्वी, अंतरिक्ष, द्यूलोक, जल और वनस्पति के प्रति हिंसा न करने की तथा उनके संरक्षण की सलाह देता है। **पृथिवी मा हिंसीः, अंतरीक्षं मा हिंसीः, दिवं मा हिंसीः, मापो हिंसीः, मा ओषधी हिंसीः।**[७] पर्यावरण की रक्षा के लिए वनस्पति एवं वृक्षारोपण को आवश्यक मानते हुए ऋग्वेद के एक मंत्र में वनस्पति आरोपण का स्पष्ट उल्लेख किया गया है- **वनस्पति वन आस्थापयध्वम्।**[८] ऋग्वेद के एक सम्पूर्ण सूक्त में वन की देवी अरण्यानी का वर्णन है।[९]

वैदिक उपदेश है कि अन्य प्राणियों की तरह हम वनस्पतियों पर भी दया दिखलायें; क्योंकि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि प्राणियों में जैसी चेतना होती है, वैसी ही चेतना वनस्पतियों में भी होती है। इन्हें जैसा सुख-दुःख होता है, वैसे वनस्पतियों को भी होता है। छान्दोग्य उपनिषत् में कहा गया कि हरा वृक्ष जीवात्मा से ओतप्रोत रहता है, वह जलपान करता है और जड़ द्वारा पृथ्वी से रसों को चूसता रहता है।[१०] श्रुति ने चेतना के इस सिद्धांत को बुद्धिगम्य करने के लिए कुछ प्रत्यक्ष घटनाएं प्रस्तुत की हैं- जैसे हरे-भरे वृक्ष की कोई शाखा रोग या चोट से जब अत्यंत आहत हो जाती है, तब उसमें व्याप्त जीव उसे छोड देता है। इसी तरह यदि जीव सारे वृक्ष को छोड देता है तो सारा वृक्ष ही सूख जाता है।[११]

वैदिक ऋषि यह भलीभांति जानते थे कि पर्यावरण की दृष्टि से किस वृक्ष का क्या महत्व है। वृक्षों में पीपल सर्वाधिक उपयोगी है, जो दिन-रात आक्सीजन छोड़ता है। इसलिए ऋग्वेद के दशम मण्डल एवं यजुर्वेद के १२वें एक मंत्र में पीपल के नीचे बैठना तथा पलाश के समीप बस्ती बसाने का निर्देश दिया गया है।[१२]

मानव-जीवन के लिए इस प्रकार आक्सीजन प्रदान करने तथा अत्यन्त उपयोगी होने के कारण ही उनकी रक्षा करने तथा उनमें पूज्य-भावना रखने के कारण उनको यत्र-तत्र नमस्कार करते हुए उनसे शान्ति प्रदान, आनन्ददायक, हितकारी होने की प्रार्थना की गई है। वृक्ष जीवनदायक एवं स्वास्थयप्रद आक्सीजन छोड़ते हैं तथा जीवन के लिए हानिकारक वायु को ग्रहण कर लेते हैं। वृक्षों के इस महत्व को ध्यान में रखते हुए वेदमंत्रों में वृक्षों, वनस्पतियों, औषधियों एवं वनों तथा वन के रक्षकों तक को नमस्कार किया गया है और इनके मधुमय, हितकारी एवं शान्तिदायक होने की कामनायें की गई हैं।[१३]

---

४. गीता, ३.१४. ५. ऋ. १०.१४६.६ ६. वही, १०.१०१.११
७. यजु. ६.२ ८. ऋ. १०.१०१.११ ९. वही, १०.१४६ १०. छां.उ. ६.११.१
११. वही, ६.११.२ १२. ऋ. १०.९७.५, यजु. १२.१९ १३. ऋ. १.९०.८; यजु. १६.१८; १९.२४.२६.३४.

ऋषि द्वारा यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है कि किसी भी परिस्थिति में पृथिवी पर उगने वाली वनस्पतियों की जड़ों को नष्ट नहीं करें।[१४] इससे स्पष्ट है कि पृथिवी पर होनेवाली औषधियों एवं वनस्पतियों के प्रति श्रद्धा वृक्ष-संरक्षण का मूल सिद्धान्त है। ऋषि यज्ञ के निमित्त अथवा पशुओं के भोजन के लिए भी वृक्षों के कुछ हिस्सों को ही काटने का निर्देश देते हैं। उनके द्वारा स्पष्ट निर्देष है कि कभी भी उसका समूल उच्छेद न करें।

अथर्ववेद जहां जल, वायु तथा औषधि को सृष्टि के आदि से मानने की बात कहता है वहीं आसपास के वातावरण और वायु को शुद्ध रखने के लिए प्रेरणा देता हुआ प्रत्येक व्यक्ति को अपने घरों के आने-जाने के मार्ग पर खूब घास उगाने और वहां कमलों के तालाब बनाने की भी प्रेरणा देता है।[१५]

भारतीय ऋषियों ने पौधों को लगाना एक नियमित कार्य बताया है, जिससे पृथ्वी पर स्वर्ग बनता है, पौधों को देवी-देवताओं से भी संबंधित किया गया, जिससे उपयोगी पौधों तथा वृक्षों का संरक्षण हो सके।[१६] 'तुलसी' को भगवान् राम, शिव और विष्णु के रूप में जोड़कर उसे महाऔषधि बताया गया। 'अशोकवृक्ष' को बुध, इंद्र, आदित्य और विष्णु के रूप में अभिहित किया गया। 'पीपल' को विष्णु, लक्ष्मी, दुर्गा आदि रूप में प्रयुक्त किया गया।

यजुर्वेद के शांतिपाठ में पर्यावरण के सभी तत्वों को शांत और संतुलित बनाये रखने का उत्कट भाव है।[१७] सामवेद में जीवन की मंगल कामना और प्रकृति की अविरल उपासना के भाव वर्णित हैं। ऋषि प्रार्थना करता है कि- **इंद्र सूर्यरश्मियों और वायु से हमारे लिए औषधि की उत्पत्ति करो।।**[१८]

धर्मशास्त्रीय दृष्टि से भी केवल आधुनिक काल में ही नहीं अपितु सृष्टि के आदिकाल से ही मानव-जीवन के साथ प्रकृति का अभिन्न सम्बन्ध माना गया है। सम्पूर्ण वनस्पति मानव-जीवन के संरक्षक तथा संवर्धक के रूप में स्वीकृत की गई है। इसी को समक्ष रखते हुए मनु महाराज मनुस्मृति में कहते हैं कि-

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्।
आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादानं तथा।।[१९]

उनके मत में भी वृक्षों का काटना महापाप समझा गया था।

महाभारत के आदिपर्व में वर्णन है कि गाँव में जो जगह पेड़, फूल और फलों से भरपूर हो वह स्थान हर तरह से अर्चनीय हैं।[२०] अग्निपुराण में कहा गया है कि जो मनुष्य जितने ही वृक्षों का रोपण करता, वह अपनी पहले और पीछे उतनी ही वह पीढ़ियों को तार देता है। वहीं यह भी कहा गया कि किस ऋतु में कब पेड़ लगाये किस प्रकार उसका रोपण करे आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।[२१]

वस्तुतः वैदिक ऋषियों तथा बाद के ऋषियों-महर्षियों एवं कवियों ने मानव-जाति के विकास के लिए जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भरपूर शिक्षाएं दी हैं। यदि मनुष्य तनिक भी प्राचीन परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए अपने जीवन को तदनुरूप बनाये एवं आवश्यक संसाधन प्राप्त करे तो पर्यावरण का इतना विनाश नहीं होगा, जितना अभी हो रहा है। अतः मानव यदि अपने जीवन को सुखमय तथा दीर्घ बनाना चाहता है तो उसको निश्चय ही अपने प्राचीन साहित्य को ध्यान में रखते हुए उन मान्यताओं को अपनाना होगा जिनको अपनाकर हमारे ऋषि और महर्षि शतायु होते हुए भी कभी दुःखी नहीं होते थे।

-संस्कृत विभाग, आदिवासी आर्ट्स एवं कॉमर्स कॉलेज, भिलोड़ा, जि- अरवल्ली (गुजरात)-३८३२४५। मोबा: ९९९८८६५५०१

१४.यजु. १.२५
१५. अथर्व. १८.१.१७, ६.१०६.१.
१६. ऋग्वेद मं.७.
१७. यजु. शान्तिपाठ
१८. साम. २.७.१०
१९. मनु. ११-६४
२०. महाभारत (आदिपर्व)
२१. अग्निपुराण-अध्याय २८२

स्वामी विवेकानन्द का वैदिक चिन्तन

– डॉ. हरिदत्त ग्वाड़ी

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' इस उक्ति के अनुसार वेद अखिल विश्व-ब्रह्माण्ड की मानवीय सभ्यता, संस्कृति और धर्मों का मूलस्रोत है। यह लौकिक-अलौकिक ज्ञान का एक ऐसा सागर है जिसके तल से विश्व की सभी सभ्यताओं ने आधारभूत मुक्ताओं को प्राप्त किया है।

जब-जब इस लोक में वैदिक चिन्तकों, विद्वानों और प्रचारकों की चर्चा होगी तब-तब युगपुरुष स्वामी विवेकानन्द के योगदान के बिना वह अधूरी ही रहेगी। समस्त विश्व में वेदों के व्यावहारिक ज्ञान-विज्ञान का प्रचार-प्रसार और विस्तार करने में स्वामी विवेकानन्द ने अग्रणी भूमिका निभायी। जर्मन देश से वेद की दुर्लभ पाण्डुलिपियों को भारत देश में पुनः लाने वाले एकमात्र वही थे। उनके वैदिक चिन्तन से प्रभावित होने के कारण ही प्रो. मैक्समूलर भी उनके भक्त बन गये थे। आखिर कैसा था स्वामी विवेकानन्द का वैदिक चिन्तन ?

१. वैदिक धर्म :-

स्वामी जी के अनुसार-धर्म का अर्थ आचारमात्र नहीं है क्योंकि धर्म का आन्तरिक तत्व अपरिवर्तनीय होने पर भी बाह्यरूप परिवर्तनशील है। आचारसमूह भीतरी अनुभूति की बाह्य अभिव्यक्तियाँ मात्र है। भावरहित आचार उन्नति में सहायक न होकर अवनति का कारण बन जाता है। हमारी जातिप्रथा तथा अन्य नियम आपातदृष्टि से धर्म से सम्बद्ध प्रतीत होने पर भी वास्तव में ऐसा नहीं है। समग्र आर्यजाति की रक्षा के लिये इन नियमों की आवश्यकता हुई थी। जब इस आत्मरक्षा की आवश्यकता नहीं रह जायेगी तो सभी नियम अपने आप ही उठ जायेंगे। सामाजिक बीमारियाँ बाहर के प्रयास से दूर न होंगी। उसके लिए मन के ऊपर कार्य करने का प्रयास करना होगा। ऐसी कोई सामाजिक व्याधि नहीं है जो वैदिक शिक्षा के द्वारा दूर न की जा सके। परन्तु यह तभी संभव है जब वर्तमान शिक्षापद्धति में परिवर्तन हो। धर्म को नींव बनाकर जो शिक्षा मानव की अन्तःशक्ति की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति में सहायक हो, वही वास्तविक शिक्षा है।

२. नारी सशक्तीकरण :-

स्वामी जी का मत था कि नारी का अभ्युदय हुए बिना भारत के कल्याण की सम्भावना नहीं है, जैसे एक पंख से पक्षी का उड़ना सम्भव नहीं है। हे भारत! मत भूलना कि तुम्हारी नारीजाति का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती है। सतीत्व और मातृत्व का आदर्श अविकृत रखकर नारीजाति को जगाना होगा। इस देश में पुरुष-नारी के बीच इतना भेदभाव क्यों किया गया है। वेदान्तशास्त्र में तो एक ही चित्सत्ता को सर्वभूतों में विराजित कहा गया है। परन्तु स्वामी विवेकानन्द ने यह भी बतला दिया कि नारियों के वास्तविक कल्याण-साधन में नारियाँ ही सक्षम हैं। पुरुष इसमें दूर से सहायता कर सकते हैं परन्तु वे कदापि उनकी स्वाधीनता में हस्तक्षेप न करें। नारीपूजा ही देवत्व की प्राप्ति का साधन है। यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता-क्या यह इसका प्रमाण नहीं।

३. **वर्ण-व्यवस्था :-**

स्वामी जी के अनुसार- जातिभेद ने वर्तमान युग में जो रूप धारण किया है, वह किसी समय अपरिहार्य होते हुये भी और उसके मूल में पर्याप्त सत्य निहित होने पर भी, आधुनिक काल में उसकी मूल बुनियाद को अटूट रखते हुये, उसकी बाह्य अभिव्यक्ति में परिवर्तन करना आवश्यक है। समाज में धर्म के नाम पर आडम्बरों की जो ताण्डवलीला चल रही है, उसकी निन्दा करते हुए स्वामी जी ने कहा - "भाई ! धर्म क्या अब भारत में रह भी गया है ? ज्ञानमार्ग, योगमार्ग सब चले गये। अब रह गया है एकमात्र छोटे-बड़े का भेदभाव।" वे इस भेदभाव से दूर रहते हुए सब को परमपिता परमात्मा की सन्तान मानते हुए समान दृष्टि, समान भाव से देखते थे।

४. **सामाजिक समरसता :-**

स्वामी विवेकानन्द का मानना था कि जन-साधारण की उन्नति हुए बिना राष्ट्रीय उन्नति असम्भव है। क्योंकि व्यष्टि में ही समष्टि निहित होती है। व्यक्ति ही समाज का मूल है, अतः व्यक्ति की शक्ति ही समाज की शक्ति हुआ करती है। अतः तथाकथित निम्नवर्गों का सर्वाङ्गीण उत्थान आवश्यक है। क्योंकि इन्होंने हजारों वर्षों तक अत्याचार सहा है, चुपचाप सहा है और इससे उन्हें प्राप्त हुई है अपूर्व सहिष्णुता। परन्तु इन अकिञ्चनों के उत्थान आन्दोलन से भारत की सनातन संस्कृति कहीं केन्द्रच्युत न हो जाए। हमारा उद्देश्य होगा-प्राचीन ब्राह्मणसंस्कृति को शूद्र के स्तर पर न उतारकर प्रत्येक शूद्र को ब्राह्मणत्व में उन्नीत करना। सतयुग में एकमात्र ब्राह्मणजाति ही थी। श्री रामकृष्ण के आगमन से पुनः उसी सतयुग का सूत्रपात हुआ है। अब सब भेदभाव उठ गये। आचाण्डाल प्रेम के अधिकारी होंगे। नारी-पुरुष का भेद, धनी-निर्धन का भेद, पण्डित-मूर्ख का भेद, ब्राह्मण चाण्डाल का भेद वे सब दूर कर गये।

५. **भौतिक और आध्यात्मिक :-** हमारे देश में धर्म और सांसारिक अभ्युदय के बीच जो अलंघ्य तथा कृत्रिम भेद-भाव की सृष्टि हुई है, विवेकानन्द के मत में वही हमारी अवनति का प्रधान कारण है। वस्तुतः दोनों के बीच कोई प्रभेद नहीं है, वरन् धर्मवृद्धि के फलस्वरूप जागतिक उन्नति भी स्वतः ही होना वाञ्छित है, अनिवार्य है। इन प्राणप्रद तथा प्रगतिमूलक उपदेशों का कर्मक्षेत्र में उपयोग न करने के कारण ही हमारी भौतिक प्रगति नहीं होती। हमारे बुद्धि है, हाथ नहीं हैं। हमारे पास वेदान्त तत्व है, पर उसे कार्यरूप में परिणत करने की क्षमता हममें नहीं है। हमारे ग्रन्थों में महान् साम्यवाद है पर व्यवहार में महान् भेदबुद्धि है। भारतवर्ष में ही महान् निःस्वार्थ निष्काम कर्म का प्रचार हुआ है परन्तु व्यवहार में हम अत्यन्त कठोर, अति-हृदयहीन हैं। जिस ज्ञान के द्वारा भव-बन्धन से मुक्ति मिलती है उससे साधारण-सी ऐहिक उन्नति क्यों नहीं होगी? अवश्य होगी। आज व्यावहारिक वेदान्त की आवश्यकता है। संसार में जितने भी प्रकार के सम्बन्ध हैं उन सभी को इस भगवत्-दृष्टि के द्वारा ईश्वरप्राप्ति में सहायक बनाना होगा। इतना ही नहीं, जीवन का प्रत्येक कर्म ईश्वर की इच्छानुसार सम्पन्न करना होगा। क्योंकि वस्तुतः कर्म, करण, कर्ता, कर्मफल आदि सब कुछ ब्रह्म ही है। चिरन्तन वैदिक उपदेश भी यही है कि- 'सर्वं

ब्रह्ममयं जगत्।'

६. **'वसुधैव कुटुम्बकम्' :-**

एक समय था जब सम्पूर्ण विश्व में भारत का बोलबाला था पर धीरे-धीरे वह कम हो गया उसका कारण हो सकता है हमारी संकीर्ण भावना। स्वामी जी के अनुसार- कोई व्यक्ति या राष्ट्र औरों से अपने-आपको पूर्णतया पृथक् रखकर जीवित नहीं रह सकता। अपने संकीर्ण बिल से बाहर आकर देखो, सभी राष्ट्र कैसे उन्नति कर रहे हैं। क्या तुम लोग मनुष्यों से प्रेम रखते हो? तो फिर आओ और प्राण-पन से अच्छा बनने का प्रयास करो। दूसरों के साथ मिलने के लिये उनके प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव होना चाहिये। हम लोग सिर्फ इसी बात का प्रचार नहीं करते कि- 'अन्य धर्मों से विद्वेष न करो' हम लोग सभी धर्मों को सत्य मानते हुये उन्हें पूर्णतया अपनाते हैं और सिर्फ प्रचार ही नहीं, उनका जीवन में पालन भी करते हैं। समान स्तर के हुये बिना मित्रता होना कदापि सम्भव नहीं। यदि तुम लोगों को अंग्रेजों और अमेरिकनों के समान होने की इच्छा हो तो जिस प्रकार उनसे सीखना होगा, वैसे ही उन्हें सिखाना होगा।

संक्षेप से लिखा जा सकता है कि- यद्यपि स्वामी विवेकानन्द भारतवासी थे और भारत की उन्नति के लिये प्राणपन से प्रयास करते थे, तथापि उन्होंने राजनीति में भाग नहीं लिया। आध्यात्मिक अनुभूति ही उनके सारे कर्मों एवं प्रचार का उद्गम था। इसी विवाद-विच्छेदहीन प्रेमराज्य में अधिष्ठित रहकर और प्रतिक्षण निखिल ब्रह्माण्डव्यापी अद्वैत-सत्ता की अनुभूति करते हुए विवेकानन्द कह गये हैं- यह न भूल जाना कि मेरा प्रेम केवल भारत के प्रति ही नहीं, सभी देश के लोगों के प्रति है। वास्तव में उनका वैदिक चिन्तन सच्चे अर्थों में अत्यन्त व्यावहारिक और प्रायोगिक था। उनका जीवनदर्शन वैदिक सिद्धान्तों के ज्ञान का निर्मल दर्पण था। स्वामी विवेकानन्द ने वैदिक ग्रन्थों में केवल यह पढा ही नहीं था अपितु वे अपने जीवन में निम्नलिखित ऋचाओं के आधार मानकर ही कार्य करते थे और करते रहे तथा भावी सन्तान को भी इस पर चलने की प्रेरणा यत्र-तत्र अपने उपदेश में दे गए- १. उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत, २. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः, ३. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्, ४. कृण्वन्तो विश्वमार्यम्, ५. मे माता पृथ्वी महीयम्।

-हिमाचल आदर्श संस्कृत महाविद्यालयः जांगला, रोहडू,
जि० शिमला, (हि०प्र०)-१७१२१४

गीता में विषय-चिन्तन के परिणाम की शिक्षा

– सुश्री स्नेहलता

गीता ज्ञान का ऐसा भंडार है जिसमें लौकिक और पारलौकिक दोनों लोक सुधारने की गूढ़ से गूढ़ व्याख्या की गई है। गीता के एक-एक श्लोक की व्याख्या विस्तृत अगाध और अथाह है। इसके एक ही श्लोक को कोई जीवन में उतार सके तो वह निश्चय ही मानव से महात्मा बन जाएगा। उसका जीवन पवित्र और निर्मल हो जाएगा।

गीता में कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुषों की उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।[१] विषयों से तात्पर्य यहां विषयवस्तु से है। इस जगत् में जितनी भी वस्तुएं हैं उन्हें विषय कहा गया है। मनुष्य का स्वभाव होता है कि वह जो भी चीज देखता है और जो उसके पास नहीं है वह उसको पाना चाहता है। पाने की लालसा ही विषयों का चिन्तन है। यही दुःखों का मूल कारण विषयों का चिन्तन है। आधुनिक युग में बढती हुई वैज्ञानिक प्रगति ने मनुष्यों को इन्हीं सुविधावादी, भोगवादी, संस्कृति की ओर अग्रसर किया है। भौतिक वस्तुओं की चकाचौंध उसे कस्तूरी के मृग की तरह अपनी ओर आकर्षित करती है। जैसे ही वह एक चीज पाता है उसे उससे अच्छी और अधिक सुविधायुक्त चीजें दिखाई देने लगती हैं। वह फिर से उन चीजों की ओर आकर्षित होने लगता है। चीजों के प्रति आकर्षित करने के कई कारण हैं। आज व्यक्तियों में अपने आस-पास चारों ओर चीजों को पाने की होड़ लगी दिखाई देती है फलतः व्यक्ति की दैनंदिन बाह्यवृत्ति होती जा रही है और वह उसकी पूर्ति के लिए सतत दौड़-धूप में लगा रहता है। कहा जाता है- 'जैसा देखोगे, वैसा सोचोगे; जैसा सोचोगे, वैसा बनोगे।' अतः नानाविध नूतन-नूतन वस्तुओं के चिन्तन से उन के प्रति आकर्षण जागने लगता है। उदाहरण के लिए- एक व्यक्ति देखता है कि उसके सभी परिचितों के पास कार है, तो वह कार खरीदने के विषय में सोचने लगता है। जब एक कार हो जाती है तब वह उससे भी बढिया दूसरी कार खरीदने की सोचता है। फलतः उसकी इच्छा उत्तरोत्तर बढती जाती है। इसी प्रकार वह भवन आदि के में भी देखा जाता है। इसी को आसक्ति कहा जाता है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। इच्छित वस्तु के प्राप्त न होने पर क्रोध आने लगता है। उसे लगने लगता है कि यदि वह कार खरीदना चाहता है तो वह आखिर क्यों नहीं खरीद सकता? उसकी इच्छा पूर्ति में बाधा उत्पन्न होने से उसे क्रोध आने लगता है।[२] क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है। स्मृति में भ्रम हो जाता है। स्मृति में भ्रम उत्पन्न हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान-शक्ति का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।

क्रोध के समय मनुष्य की याददाश्त उसके

१. गीता, १.६२.

२. गीता, अ०२श्लोक ६३

सोचने-समझने की शक्ति नष्ट हो जाती है। वह उचित-अनुचित का विवेक खो देता है। यही विवेकशून्यता मनुष्य को तर्कसम्मत निर्णय लेने में बाधा उत्पन्न करती है। वह अच्छे बुरे का निर्णय किए बिना ही कार्य करता है। यही विवेकहीनता से किए गए कार्य उसके व्यक्तित्व के विनाश का कारण बन जाते हैं। इस प्रकार यदि विनाश की मूल में जाकर देखें तो यही पायेंगे कि समस्त दु:खों का मूल कारण नानाविध विषयों का चिन्तन ही है।

वर्तमान सन्दर्भ में यदि इसकी व्याख्या की जाए तो यही कहा जा सकता है कि आज ज़िन्दगी एक रेस बन गई है, जिसमें हर व्यक्ति दौड़ रहा है। चाहे वह उसके लिए आवश्यक हो या न हो। आज कष्ट का कारण चीजें नहीं ब्रान्ड भी बनती जा रही हैं। विदेशी कम्पनियाँ हमारे देश की उपयोगितावादी संस्कृति को बदलकर उपभोक्तावादी संस्कृति का जाल फैलाने में जुटी हैं, जिसके कारण हमारी प्राचीन भारतीय सनातन-संस्कृति विकृत-सी होती जा रही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि लोग अपनी आवश्यकताओं को पहचानें, प्राचीनता को छोड़े बिना वर्तमान को ग्रहण कर पीछे की ओर देखते हुए आगे बढ़े। क्योंकि अपने पीछे न देखकर केवल आगे बढना भी एक प्रकार से हानिकारक है जैसे किसी पैदल चलने वाले व्यक्ति का रास्ते में चलते समय अपने चारों ओर देखकर चलने में ही भला है, अपने चारों ओर देखकर चलने वाला व्यक्ति कभी भी रास्ते में कष्ट नहीं पायेगा। आज की स्थिति में केवल पीछे देखकर चलना या केवल आगे देखकर चलना उचित नहीं, अपितु अपने आगे पीछे देखकर चलना बुद्धिमानी है। व्यक्ति केवल यही मानता न चले कि जो कुछ पुराना है वही एकमात्र ठीक है, और न यह सोचे कि पिछला सब बेकार है। आज कुछ है वही ठीक है। उन दोनों में जो बुराई है उसको छोड़ते हुए नयी जो अच्छाइयां हैं उसको ग्रहण करता हुआ आगे बढे। इसी में बुद्धिमत्ता है। यही सुखी रहने का या समाज में आदर पाने का कारण है।

-लेखाधिकारी (उत्तर रेलवे), १/३०९, विकास नगर, लखनऊ।
मोबा.: ९४५०६३९९७६

गौतम बुद्ध का मानवतावाद

– डॉ. दयानिधि शर्मा

परिचय– संसार के नियामक चक्र की परिधि में जितने भी प्राणी आते हैं, उन सब में मानव सर्वश्रेष्ठ है। मानवतावाद मानव की संकल्पना और उसकी सम्पूर्ण सुरक्षा के प्रति अपना प्रबल पक्ष रखता है। बुद्ध की शिक्षा एक सम्प्रदायविशेष से सरोकार रखती है। बुद्ध के उपदेश और उनकी शिक्षाएँ एक धर्मोपदेश का स्वरूप हैं। मानवकल्याण की आशा में मानवतावाद सर्वदा निज गुरु कर्मरत है। यह प्रतिध्वनि गौतम बुद्ध के व्याख्यानों एवं उपदेशों में अभिव्यञ्जित होती है। उनके कतिपय उपदेश निम्न प्रकार से उपस्थित किए जा सकते हैं–

दान– भगवान् बुद्ध का मानना था कि दान केवल धन-सम्पत्ति के रूप में नहीं होता वरन् बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दान भी दिया जाता है। बुद्ध ने धर्म-दान को सबसे बड़ा दान मानकर उसकी प्रशंसा की है। उन्होंने स्पष्ट कहा है "सब्बदानं धम्मदानं जिनाति" अर्थात् धर्मदान सभी दानों को जीत लेता है। धन-सम्पत्ति को दान देकर किसी व्यक्ति को कुछ समय के लिए थोड़ी सहायता पहुँचायी जा सकती है परन्तु धर्म-दान करने पर मानवजाति का सदा कल्याण होता है।[1] क्योंकि धर्म ही मानवजाति का मूल आधार है। कहा भी गया है कि जो धर्म को नहीं मानता या उसकी रक्षा नहीं करता, वह नष्ट हुआ धर्म व्यक्ति को नष्ट कर देता है।

शील– सर्वत्र समस्त सांसारिक जनसमुदाय जीवन की अनेक बाधाओं और उलझनों से पीड़ित है। इसका परिहार करने के लिए जीवन में 'शील' का अत्यधिक महत्त्व है। शीलविहीन जीवन निरंकुश और अमर्यादित होता है। गौतम बुद्ध ने शुद्ध चित्त से युक्त व्यक्ति को ही प्रज्ञावान् और ज्ञानवान् स्वीकार किया है। उन्होंने स्वयं स्पष्ट कहा है।[2]

१.२ विरक्ति– संस्कृत-साहित्य के सुप्रसिद्ध कविश्रेष्ठ अश्वघोष द्वारा प्रणीत महाकाव्य बुद्धचरित में गौतम बुद्ध के जीवन का सुन्दर वर्णन मिलता है। वृद्धावस्था इत्यादि चार पूर्व निमित्तों से जब कुमार विरक्त हो जाता है तब राजा की आज्ञा से राजपुरोहित उच्चकोटि की सुन्दरियों को राजकुमार के चारों ओर एकत्र कर देता है जो अपनी हाव, भाव, प्रेमपूर्ण संगीतादि विभिन्न कलाओं और प्रेमप्रसंगों द्वारा कुमार का मन मोहित करने की चेष्टा करती हैं; किन्तु सब व्यर्थ हो जाता है। कुमार को इन चेष्टाओं पर केवल आश्चर्य ही होता है। वह कह उठता है "अपने पड़ौसी को रुग्ण और मृत देखकर भी जो जीवन में आनन्द की अनुभूति करता है वह निस्सन्देह उसी प्रकार अचेतन है जिस प्रकार पड़ोस के पेड़ को काटे, चीरे और पुष्पहीन होते हुए देखकर के भी दूसरा पेड़ अप्रभावी बना रहता है।[3]

अष्टांगसाधना-मार्ग– बुद्ध के दार्शनिक उपदेशों में मूलतः अष्टांगसाधना-पथ को स्पष्ट किया गया है। जिसमें सम्यक्दर्शन श्रद्धा एवं दृष्टि की शुचिता से सम्बद्ध है। सम्यक्-ज्ञान प्रज्ञा की उत्कृष्टता पर बल देता है। सम्यक्-वचन मृषा,

१. सत्यप्रकाश, वैद्यनाथ (सपा.) बौद्ध प्रज्ञासिन्धु, दिल्ली.

२. संयुक्त निकाय भाग – १, पृ. ४

२. मेक्डोनल, आर्थर एण्टनी (लेखक), त्रिपाठी, रामसागर (अनु.) : संस्कृत साहित्य का इतिहास; दिल्ली. चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, १९९१.

पिशुनता, परुषता और व्यर्थ संलाप से विलग करता है। सम्यक् कर्मान्त कार्यकरण की पवित्रता की ओर संकेत करता है। सम्यक् आजीव जीविका के न्यायपूर्ण रीति से अर्जन करने पर अवधान केन्द्रित करता है, सम्यक् व्यायाम वहीं शारीरिक श्रम को दृष्टिगत रखता है। इसमें शील गुण का समन्वय भी अनुभव किया जाता है। सम्यक् स्मृति विचारशीलता को प्रेरित करती है। इसके साथ ही सम्यक् संकल्प निश्चयात्मिका प्रवृत्ति को जन्म देता है।

प्रमुख शील-गुण- बुद्ध के उपदेशों में शील के गुणों का निरूपण इस प्रकार किया गया है: (क) शीलवान् व्यक्ति सर्वदा सक्रिय और प्रमादरहित होता है। (ख) वह शील के माध्यम से बहुविध धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है। (ग) शील के द्वारा वह प्रथित कीर्ति बन जाता है। (घ) शील व्यक्ति को सदैव जाग्रत चेतना-अवस्था की ओर उन्मुख करता है। (ङ) पश्चाताप न करना अनेक शील गुणों का प्रभाव स्वीकार किया जाता है। (च) शीलमय व्यक्ति कहीं भी भय और संकोच को स्वीकार न करके निर्भीक तथा निःसंकोच बन जाता है।

चार आर्यसत्य- गौतम बुद्ध ने सारनाथ में अपने जीवन का प्रथम उपदेश दिया था। उसी में उन्होंने अपने जीवन से सम्बन्धित शिक्षाओं का सार प्रस्तुत किया। उनका मानना है कि मानव-जीवन में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दुःख ही दुःख है। उनका वक्तव्य है कि मैंने निरन्तर दो ही उपदेश दिए हैं; दुःख और दुःख-निरोध। इस सन्दर्भ में वे चार आर्यसत्यों को अङ्गीकार करते हैं (अ) दुःख (ब) दुःख समुदय अर्थात् दुःख के उत्पन्न होने का कारण। (स) दुःख-निरोध (द) दुःख-निरोध मार्ग-इन चारों का ज्ञान हो जाने के उपरान्त दुःख से निवृत्ति के मार्ग की पहचान आरम्भ होती है।

निर्वाण का संप्रत्यय- संसार में बौद्धदर्शन के जितने भी सिद्धान्त हैं उनमें तीन प्रमुख विचारणीय सिद्धान्त हैं; ''सब कुछ अनित्य है, सब कुछ निःसार है तथा केवल निर्वाण में ही शान्ति है''। डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का यह विचार निर्वाण के प्राधान्य को स्वीकार करता है।[४] बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में ये उनके आधारभूत विचार हैं। संसार के समस्त प्राणी एवं पदार्थ केवल अनित्य रूप का ही बोध कराते हैं। इस अनित्य भाव के कारण दुःखों का अनुभव होना स्वाभाविक है। इन दुःखों का मूल उत्स 'अविद्या' है। जब तक 'अविद्या' का नाश नहीं होगा तब तक दुःख की सत्ता का अन्त नहीं हो सकता।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में महात्मा गौतम बुद्ध के दार्शनिक विचार एवं उपदेश स्तुत्य हैं। संसार के यथार्थ बोध को उनका दर्शन मानव-जीवन के पृष्ठों पर उकेरता है। उनका महानिर्वाण का पथ ज्ञान की पवित्रता और निष्कलुषता का परिचायक है। मानव-दुःखों के निरोध का मार्ग प्रशस्त कर उसे जाग्रत-अवस्था का बोध कराना बुद्ध के उपदेशों का प्रमुख हिस्सा है। 'ज्ञान के प्रति प्रेम' उनके मानवतावादी विचारों का प्रमुख सोपान है। जहाँ दुःखों की निवृत्ति और सुख का प्रकाश सभी मानवों को निरन्तर आलोकित कर उन्हें चिर आनन्द की ओर ले जाता है। अस्तु।

–सहायक प्रोफेसर, शिक्षाशास्त्र विभाग, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, बलाहर (मानित विश्वविद्यालय) वेदव्यास परिसर, त० देहरा, जि० काँगड़ा, (हि०प्र०)-१७७१०८

४. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन - १; पृ. १८

लघु कथा-

आत्म विश्वास

– श्री रामचरण यादव बैतूल

अजीब बात है, अंधियारी अमावस्या की रात ही दीपावली होती है। जगमग करते बल्वों के प्रकाश में नहाया हुआ सारा शहर। अमीरों की गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ रंग-बिरंगी झालरों की आभा में डूबी हुईं। चारों ओर चहल-पहल हर-तरफ खुशियों का साम्राज्य। प्रकाश का सागर मानों सारे नगर को सजाये हुए था। मध्यमवर्ग के गृह-स्वामियों ने भी अपनी सामर्थ्य एवं शक्ति के अनुरूप अपने घरों को झालरों से सजाया था, वहीं दूसरी तरफ दूर झोपड़ियों में दीपों की पंक्तियाँ दिखाई पड़ रही थीं। टिमटिमाते दीपक मानो अपने क्षीणकाय अस्तित्व को बचाने का असफल प्रयास कर रहे थे। हवा के झौके उनको पल-पल में कम्पित कर रहे थे। दीपों का क्षीण प्रकाश मानो दीन-हीन दृष्टि से उन ऊंची हवेलियों की साज-सज्जा को देख रहा हो। दूर जगमगाती बल्वों की झालर ने दीपक को टोका-अरे मित्र दीपक इतने उदास क्यों हो ? क्यों बार-बार सूखे पत्ते से कांप रहे हो।

दीपक ने बुझे स्वर में अपना शीश हिलाया और कहा क्या बताऊं बहन झालर-बिजली और बल्व तुम्हारा प्रकाश है, तुम्हारा वैभव है तुम्हारा सौन्दर्य भी असीम है। काश मैं भी इतना प्रकाश पा सकता। मैं भी इन्द्रधनुषी रंगों से सराबोर हो सकता। बल्वों की झालर ने गर्व से शीश हिलाया मानो विश्व का समस्त सुख उन्हीं के पास हो। वहीं आसपास चोरी छुपे अंधकार दोनों के संवाद सुन रहा था। झिलमिलाते कांपते दीपों को देख बोला-वत्स, जो कुछ तुम देख रहे हो वह सत्य नहीं है। यह प्रकाश, ये रूप, ये रंग सब बाह्य आवरण है, दिखावा है, आडम्बर है।

'तो सत्य क्या है मेरे भाई ? क्या बाह्य सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं, क्या वैभव का कोई रूप नहीं? दीपक के क्षीण स्वर सुनायी दिये। 'नहीं दीप नहीं। वास्तविक सौन्दर्य तो आत्मा का है। आत्मविश्वास जिसके पास है वही सच्चे सौन्दर्य से परिपूर्ण होता है। आत्मबल ही सब कुछ है जो तुम में भरपूर है। बल्वों का प्रकाश स्वयं का नहीं वरन् विद्युत द्वारा अर्जित है। तुम तो स्वयं सामर्थ्यवान् हो। तुम पल-भर में ही मेरे हृदय को भी आलोकित कर सकते हो। तुम्हारा प्रकाश अक्षुण्ण है, अनश्वर है।

तभी अचानक विद्युत प्रवाह रुक गया तथा सभी अट्टालिकाएँ अंधेरे में डूब गयीं। अंधकार की सारी बातें अब दीपक की समझ में आ गईं। दीप अब समझ गया था कि आत्मा का प्रकाश एवं आत्मविश्वास ही सब कुछ है। वह अनवरत जलते हुए भी मन्द-मन्द मुस्करा कर अपने हर्ष को प्रकट कर रहा था। बड़ी बड़ी हवेलियों पर छाया अंधकार दीपक के भाग्य की सराहना में लीन था। सचमुच आत्मा का सौन्दर्य ही जीवन है। आत्मविश्वास ही जीवन का आधार है, सफलता की सीढ़ी है।

–प्रधान सम्पादक-नाजनीन, सदर बाजार, बैतूल (म.प्र.)४६०००१

भारतीय नारी का स्वरूप, दायित्व एवं समस्याएँ

–सुश्री रितु गुप्ता

नारी ईश्वर की एक अद्‌भुत रचना है। वर्तमान युग में सब ओर स्वतन्त्रता की आकांक्षा जागृत हो रही है। ऐसे में भला नारी कहां अछूती रहती है? नारी हृदय में भी आजादी होना स्वाभाविक है। आरम्भ से ही चित्रकार, कविगण एवं काव्य द्वारा नारी के यौवन को कल्पना के धागे में बाँध कर अमरत्व प्रदान किया गया है।

स्त्री घर की सम्राज्ञी होने पर भी एक स्नेहमयी माता और आदर्श गृहिणी के रूप में उसका एकछत्र राज्य है। इसीलिए तो कहा गया है कि दस शिक्षकों से श्रेष्ठ आचार्य है, सौ आचार्यों से श्रेष्ठ पिता है और हजार पिताओं की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ, वंदनीया और आदरणीय माता है। भगवान् श्री राम-कृष्ण, भीष्म-युधिष्ठिर, कर्ण-अर्जुन, बुद्ध-महावीर, गाँधी-मालवीय, शंकर-रामानुज आदि जगत् के सभी बड़े-बड़े पुरुषों को नारी ने ही सृजन किया और बनाया। इसलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि नारी एक साधारण नारी न होकर वस्तुतः स्नेहमयी जननी है।

नारी के हृदय में प्राणों की प्रधानता है और पुरुष--हृदय में शरीर की। पुरुष उतने त्याग की कल्पना भी नहीं कर सकता, जितना त्याग नारी सहज ही कर सकती है। शक्ति का महत्व अन्यतम है, बिना शक्ति के शिव भी शव के समान है। शिव की शक्ति पार्वती है जो शिव की शक्ति तथा कर्मण्यता का प्रतीक है।[१]

नारी को बाल, युवा और वृद्धावस्था में जो स्वतन्त्र न रहने के लिए कहा गया है, वह इसी दृष्टि से कि उसके शरीर की नैसर्गिक संघटना ही ऐसी है कि उसे सदा एक सावधान पहरेदार की जरूरत है। क्योंकि उसकी शारीरिक स्वाधीनता सर्वत्र सुरक्षित नहीं है। परन्तु इस दैहिक, सहिष्णुता, सेवा, त्याग, तपस्या आदि सद्‌गुण सत्-स्त्री की सेवा में सदा लगे ही रहे हैं। स्त्री में स्वभाव से ही इन गुणों का विकास रहता है।

अपनी आत्मशक्ति के कारण ही आज भारतीय नारी के समक्ष देश का विस्तृत एवं विकासोन्मुख क्षेत्र है। खोए हुए व्यक्तित्व को नारी ने पुनः प्राप्त कर लिया है। नारी समाज की परिस्थितियों और देश के साहित्य पर भी अमिट छाप छोड़ती आई है। जीवन के अनेक ज्वलन्त पदार्थ हैं जिनसे उनको रूबरू होना पड़ रहा है। नारी ने इस समस्याओं को भी चुनौती समझ कर स्वीकार किया है लेकिन कहीं न कहीं ये आदर्श समाज में बाधक भी हो रहे हैं।

नारी की समस्याएँ- मध्यवर्गीय या निचले स्तर की नारो की सबसे बड़ी विवशता है- आर्थिक पराधीनता। इसके चलते वह पुरुष के हर प्रकार के अत्याचारों को झेलने के लिए बाध्य हो जाती है। पुरुषों की ठोकरें खानी पड़ती हैं। जगह-जगह प्रेम से बचना पड़ता है, नौकरी के लिए नए-नए मालिकों के दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं और 'नो वेकेंसी' की सूचना पढ़कर निराश भी लौटना पड़ता है। आज की नारी दोहरी भूमिका (घर और

१. कामसूत्र- वात्स्यायन, पृष्ठ सं. ६०

बाहर) दोनों क्षेत्रों में निभा रही है। स्वयं कमाते-कमाते वह दोहरे बोझ से दब गई है। पारिवारिक जीवन की सरलता जटिलता में परिवर्तित हो गई है।

सामाजिक कुरीतियों में दहेज प्रथा एवं लिंगभेद बड़ी समस्याओं के रूप में उभर कर सामने आई हैं। महिला-साक्षरता हजारों सामाजिक बीमारियों की एकमात्र औषधि है। महिला-साक्षरता ने यह प्रभावित कर दिया है कि जनसंख्या पर काबू पाने के लिए साक्षरता की राह पर चलना होगा। बालशिक्षा (विशेषकर कन्याओं की शिक्षा), सामाजिक परिवर्तन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है। ८८ प्रतिशत गर्भवती महिलाएं रक्त-अल्पता की शिकार होती हैं। देश की ४० प्रतिशत शिशु मृत्यु दर का कारण माता की रक्त-अल्पता होता है।

जीन ड्रेज व अमर्त्य सेन के अनुसार महिलाओं के प्रयत्नों व साक्षरता में विस्तार के मध्य महत्वपूर्ण सह-निर्भरता है। केरल राज्य को उत्तरप्रदेश से एकदम विपरीत बना दिया है। यहां की दो तिहाई प्राइमारी स्कूल शिक्षिकाएं महिलाएं हैं (उत्तरप्रदेश में १८ प्रतिशत के मुकाबले)।[२] लिंगों के मध्य पूर्ण समानता सभी क्षेत्रों में महसूस होनी चाहिए। समाज में पुरुषों के बराबर का दर्जा दिलाने के लिए पुरुषों की भागीदारी नितान्त आवश्यक है। अपने अधीन न समझकर बराबर का दर्जा देने की सोच को पुरुषों को विकसित करना होगा ताकि दोनों के बीच की खाई को पाटा जा सके एवं देश-राष्ट्र विकास की ओर उन्मुख हो सके।

नारी है पुरुष की सहचरी
समान मानसिक क्षमताओं से प्रदत्त।
उसको अधिकार है पुरुष की
गतिविधियों के सूक्ष्मतम पहलुओं में
भागीदारी का और,
उसको समान अधिकार है उसके
साथ स्वतन्त्रता एवं मुक्ति का।

महात्मा गांधी-१९१७

महिलाओं व लड़कियों के प्रति हिंसा तथा अत्याचरण आज दुनिया में मानव अधिकारों का सबसे व्यापक उल्लघंन है। जागरूकता के अभाव में महिलाएं उनके खिलाफ आवाज नहीं उठा पा रही हैं और शोषण का शिकार हो रही हैं। ऐसे अत्याचारों के लिए सम्पूर्ण नारीजाति को आवाज उठानी होगी। नारी ही देवी है, नारी ही दुर्गा व चण्डी है। आवश्यकता है इस बात को चरितार्थ करने की। विकास विरोध के बिना नहीं हो सकता। जब तक नारी में आत्म चेतना नहीं आएगी विकास नहीं हो सकता।

वक्त का तकाजा है तूफाँ से जूझो,
आखिर कब तक चलोगे किनारे-किनारे।

एक समय था जब स्त्री को बचपन में पिता के अधीन, जवानी में पति के अधीन, बुढ़ापे में पुत्र अधीन रहना पड़ता था। आज के आधुनिक समाज में स्थितियां कुछ बदलती जा रही हैं। किन्तु जागरूकता इतनी हो न कि नारी अपना अस्तित्व ही भूल जाये उसको यह भी ध्यान रखना होगा कि नारी का समाज में जितना आदर है वह

२. महिला सशक्तिकरण चुनौतियाँ- राकेश द्विवेदी- पृष्ठ सं. २३, २७ एवं रणनीतियाँ

विद्यमान रहे- अति सर्वत्र वर्जयेत् के आधार पर वहीं यदि धीरे-धीरे मर्यादा में रहती हुई आगे बढ़ेगी तो वह निश्चित ही भारत को भा-रत बनाने में सक्षम होगी।

परन्तु पिछड़े क्षेत्रों में आज भी नारी-जाति चुपचाप समस्याओं को झेल रही है। आखिर ऐसा क्यों? क्या वास्तव में नारी इतनी सबल नहीं है कि वह अपनी समस्याओं को बौना कर सके? पर अब भी कहीं न कहीं पर वह अपने पिछले समाज से आजाद नहीं है।

मेरे विचार से तो नारी सशक्त है, बस उसमें आत्मविश्वास, धैर्य, प्रयत्न व लालसा की कमी है जो उसे संगठित होकर ही मिल सकती है। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, एकता में शक्ति जैसे सिद्धान्त को मानकर महिलाओं को अपने विरोध में उठने वाली हर आवाज के प्रति संगठित होना होगा। वर्ष २००१ महिला सशक्तिकरण वर्ष के रूप में मनाया गया। सन् १९७३ को अन्ताराष्ट्रीय महिलावर्ष के रूप में मनाया गया।

स्त्रियों की दशा में सुधार हुए बिना विश्व के उत्थान का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

-स्वामी विवेकानंद

कल दिया था, आज भी देगी,
नारी है न, बलिदान तो देगी।

नर से बढ़कर नारी है। आज नारी के ३३ प्रतिशत आरक्षण की मांग हो रही है। उसकी दुहाई दी जा रही है पर यदि देखा जाय तो आरक्षण से अधिक महत्वपूर्ण है कि स्त्री अपने गढ़े हुए बनावटी व्यक्तित्व से अपने को मुक्त करें। इसी से महिला सशक्तिकरण अभियान को वास्तविक सार्थकता प्राप्त होगी। इसी से नारी का सम्मान होगा, नारी के सम्मान से भारत में एक बार पुनः देवावतरण होकर रहेगा, जब कारण होगा तो कार्य भी होगा ही और कारण स्पष्ट है क्योंकि ऋषियों की मान्यता तथा कथन है कि- यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। अतः एक बार सच्चे हृदय से जब नारीजाति का सम्मान होगा तो यह धरा धरा न रहकर स्वर्गतुल्य ही होगी।

-हिन्दी प्रवक्ता, एस.डी. कॉलेज (लाहौर), अम्बाला कैण्ट

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति, ददात्यर्चितमेव च।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं, नरकं तु विपर्यये।।

मनुस्मृति- ४. २३५

जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दान देता है और जो श्रद्धापूर्वक ही दान लेता है। वे दोनों लेने वाला और देने वाला स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। परन्तु जो अश्रद्धापूर्वक दान लेते-देते हैं, वे अधमगति को प्राप्त करते हैं।

गीता का दिव्य जीवन-दर्शन

-डॉ. दिनेश प्रसाद तिवारी

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि भारतीय विद्वान् अपितु विश्व के चिन्तक भी मानते हैं कि- ब्रह्मविद्या का प्रतिपादन करने वाले दर्शनारण्य में विचरणशील कल-कल- निनादी उत्स के रूप में जिन महार्घ ग्रन्थरत्नों ने माँ भारती के ललाट को सर्वोन्नत किया है, उनमें श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का स्थान सर्वोच्च है। उपनिषद्स्वरूपा धेनुओं से भगवान् श्रीकृष्ण ने सुधी भोक्ताओं के लिए ही गीतामृतरूपी दुग्ध का दोहन किया था।[1] श्रीमद्‌भगवद्‌गीता महाभारत जैसे विशालतम ग्रन्थ का सारतम अंश है। निःश्रेयस् की प्राप्ति का मार्ग यहां अतीव सरल एवं सरस भाषा में अभिव्यक्त किया गया है, जिसे सर्वसाधारण एवं सुधी दोनों सरलता से हृदयङ्गम कर सकते हैं। औरों की क्या बात करें, स्वयं भगवान् वेद व्यास ही गीता के विषय में अपनी लेखनी से लिख गए कि-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

उत्फुल्ल मेधा के धनी कालजयी युगद्रष्टा 'महर्षि वेदव्यास' महाभारत के रचनाकार एवं श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के संकलनकर्ता हैं। व्यास का अर्थ है- सम्पादक। यह उपाधि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों को प्रदान की गयी है, किन्तु विशेषकर वेदव्यास उपाधि वेदों को व्यवस्थित रूप प्रदान करने वाले उन महर्षियों को दी गयी है, जो चिरंजीवी होने के कारण शाश्वत कहलाते हैं। यहीं नाम महाभारत के संकलनकर्ता, वेदान्त-दर्शन के प्रस्थापक तथा पुराणों के रचयिता को दिया गया है। ये सभी वेदव्यास कहे गये हैं। विद्वानों में इस विषय में मतभेद है कि ये सभी एक ही व्यक्ति थे, अथवा विभिन्न कालों में उत्पन्न हुए प्रतिभापुरुष । भारतीय परम्परा इन सभी को एक ही व्यक्ति मानती है। महर्षि वेदव्यास की अनेक रचनाओं के होने पर भी यहां एकमात्र श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के जीवनदर्शन के विषय तक ही लिखा जा रहा है।

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता में वर्णित जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुंचते है कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा देना था, परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य के मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सारांश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचारदृष्टि से वासुदेवभक्ति ही है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वासुदेवभक्ति में तत्पर रहने से सांसारिक कर्म का निष्पादन सिद्ध नहीं होता।

१. वैष्णवी तन्त्रसार

इधर लोकमान्य तिलक जी ने गीता पर 'गीतारहस्य' की रचना करते हुए भागवतधर्माभिमत प्रवृत्ति-मार्ग को गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोग को तत्साधन बतलाया है। ग्रन्थकार ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्रांजल युक्तियाँ दी हैं। इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियाँ अपने-अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता। परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पूर्णतः प्रदर्शित हो गई है, यह नहीं कहा जा सकता कि शास्त्रों ने मानवी-प्रकृति की भिन्नता का ध्यान रख चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। चिन्तन का प्रेमी साधक ज्ञानामार्ग से, सांसारिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्मयोग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों के विशेष विकास वाला व्यक्ति भक्ति की सहायता से अपने उद्देश्य पर पहुंच सकता है। इन भिन्न-भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे, तथा अन्य मार्गों का खण्डन करते थे। गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक्-पृथक् मार्ग प्रचलित थे(१३.२४-२५)। जिन को इस प्रकार कहा जाता था- कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। जो जिस मार्ग का पथिक था वह उसे ही सबसे श्रेष्ठ मानता था उसकी दृष्टि से मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नहीं, परन्तु भगवान् ने गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है, जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धारायें भारतभूमि को पवित्र करती हुईं त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें गीता में मिलकर तत्त्वजिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा मिटाती हुईं भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं। यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीतार्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

गीता तथा कर्मयोग- गीता के बहुत पहले मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही एकमात्र विषय है और वही सार्थक है। जैमिनी[२] ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि आम्नाय (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है। अतः उससे अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या? देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः, अर्थात् किसी देवताविशेष के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता कर्मकाण्ड की निरर्थकता से न सहमत है और न यज्ञ का यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है, अपितु वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३.१०-१६)। क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं तथा वे यज्ञ का अर्थ करते हैं। निःस्वार्थ बुद्धि से किये गए परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्म यज्ञ हैं। फलतः यज्ञ सीमित मात्रा में न रहकर नामात्व को धारण करते हुए अनेक प्रकार के होते हैं- द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि (४.१५-३२)। परन्तु गीता का कहना है कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये गये

२.मी.सू.१.२१.

कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से कभी कोई भाग नहीं सकता। इस जीवनयात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए ही कोई व्यक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों ही गुण बलपूर्वक उस प्राणी से कर्म कराते ही रहते हैं (३५)।

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है, जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है वासना-फलाकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस कामना या इच्छा से कर्म किया जाता है, उस फल को तो भोगना ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता, परन्तु फल के बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सम्पादन करना कि जिससे वे कर्मबन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्)। कर्मसंन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गीता ५.२) परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता है- (१) फलाकांक्षा का त्याग (२) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।[३]

यही कर्मयोग का महामन्त्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः आसक्ति का परित्याग कर कर्म करने में किसी प्रकार की बुराई का तनिक भी डर नहीं है। गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत कर्म के फल का त्याग करना चाहिए। इसलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, परन्तु कुशल पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फल का त्याग ही वास्तव में संन्यास है।[४]

कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोडना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिका प्रकृति के गुणों के दास हैं, जो बलपूर्वक प्राणियों से कार्य कराया करती है। तब कर्तृत्व का अभिमान कहाँ ? तीसरा सोपान यह है कि समस्त कार्यों की निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना चाहिए। गीता (९.२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि 'जीव जो कुछ करे, खाये, आहुति दे, दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् को समर्पण कर दे। इसका फल यह होगा कि कर्मबन्धन शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जायेगा।' इस प्रकार कर्मयोग की निष्पत्ति होती है। अज्ञ तथा पण्डित के कर्म करने में यही अन्तर है। अज्ञ आसक्ति से कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञानी पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यों का आचरण कर्तव्य-बुद्धि से 'लोक-संग्रह' के निमित्त करता है (३.२५)। 'लोक-संग्रह' गीता का एक विशिष्ट सारगर्भित शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यों का यथावत् रूप से निर्वाह है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते है:- (१) आलस्यवश फलों की इच्छा न रखना और न उसके लिए कर्म

३. गीता, २.४७

४. गीता, १८.२

करना। यह प्रकृत जन-सम्मत मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (२) फल की आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना- यह 'सकाम' मार्ग है, जिसमें कर्मबन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना- यह 'निष्काम' मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भलीभाँति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना- यही गीतासम्मत कर्मयाग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतों का समन्वय है। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करना ही गीता की विशिष्टता है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि गीता का दिव्य जीवन-दर्शन तापत्रय से त्राण देने का सरल मार्ग है। सांसारिक प्राणी जगत् की विभीषिका से गीता के बताये गये तत्व-दर्शन पर चलकर स्थायी शान्ति अनुभव करता है, यह सत्य, सनातन एवं सारगर्भित जीवनपद्धति है, जिस पर आज ही नहीं अनन्त काल तक हमारी आगामी सन्ततियाँ गर्व करती रहेंगी और सम्पूर्ण विश्व में गीता का विजय-ध्वज ज्ञान के उत्तुंग शिखर पर विराजमान रहेगा।

देखा जाय तो गीता का सार यही है कि- निषिद्ध कर्मों को तो कोई करे ही नहीं और जो कर्म हैं जीवन में उनके फल की भावना न रखते हुए करता चला जाय तो मुक्ति तो स्वतः हो जायेगी, बुरे कर्म करने नहीं, अच्छे-अच्छे कर्मो के फल की इच्छा नहीं, बस यही तो सार है।

-एसो० प्रोफैसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अर्मापुर पी.जी. कॉलेज, कानपुर (उ. प्र.)।

नियतं कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।।

गीता ३.८

गीता का कथन है कि मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिए क्योंकि बिना कर्म किए जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता। इसीलिए कर्म करते रहना मनुष्य की मनुष्यता तथा उसके जीवन का सार है। कर्म करने से ही सफलता प्राप्त की जा सकती है। बिना कर्म के तो वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता।

भारत देश का नामकरण

– श्री वीरेन्द्र नाथ भार्गव

स्वयं भगवान् राम के द्वारा जननी जन्मभूमि को स्वर्ग से भी महान् व्यक्त किया गया है– ''जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी। स्वयं भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को उपदेश देते समय अपनी महान् जन्मभूमि भारत को भी स्मरण करते हुए समानांतर संबोधित किया है। प्राचीन संस्कृत और पौराणिक साहित्य में भारत देश का नामकरण अथवा नामकरण की प्रसिद्धि का श्रेय कुरूवंशी राजा दुष्यन्त के पुत्र सम्राट् भरत को दिया जाता है। समानान्तर जैनसाहित्य में भारत के नामकरण का श्रेय प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् भरत को दिया जाता है। यह ज्ञात नहीं है कि इन दोनों भरत नाम वाले सम्राटों ने अपने–अपने नाम पर इस राष्ट्र का नाम भरत क्यों नहीं रखा ? भरत और भारत शब्द के अर्थ न तो एक होते हैं और न ही ये पर्यायवाची शब्द हैं।

इतिहास में भरत नाम के दो अन्य विख्यात राजा भी हुए हैं। इनमें से एक राजा भगवान् राम के पूर्वज थे तो दूसरे राजा स्वयं राम के भाई थे। राम के पूर्वज का नाम महाबाहु शत्रुसूदन भरत था (वाल्मीकि रामायण २/११०/५) और राम के भाई भरत को चौदह वर्षों के लिए राजा बनाया गया था। यह भी ज्ञात नहीं हैं कि दुष्यन्त पुत्र भरत और ऋषभदेव पुत्र भरत ने अपने–अपने समय में एक ही भू–भाग का नाम भारत रखा था अथवा अलग–अलग भू–भागों का नाम भारत रखा था। दोनों भारत नामक साम्राज्यों का इतिहास समय बीतने पर संभव है एक रूप होने के फलस्वरूप एक ही भू–भाग के इतिहास पर मतभेद उत्पन्न करता रहा हो।

भारत का एक नाम हिंद भी विश्वप्रसिद्ध है जो सिंधु (सागर अथवा नदी) शब्द से निकला है। उल्लेख मिलता है कि सीरिया–ईराक होकर बहने वाली प्रसिद्ध नदी फरात (यूफ्रेटिस) का मूल नाम भारत था। प्राचीन ईराक में दजला (टिगरिस) और फरात नदियों के किनारें पनपीं विख्यात सुमेर, चाल्डिया, बेबीलोन और असीरिया इत्यादि सभ्यताओं के समान भारत में सिंधुघाटी–सभ्यता का आविर्भाव हुआ था। पाश्चात्य विद्वानों ने ईराक पर ई. पू. १६०० से ई.पू. ११०० की पांच सदियों तक कस्साइट आर्यों का शासन माना है जिसे वहां के 'अंधकार युग' की संज्ञा दी है।

बगदाद से प्रकाशित एनसाक्लोपीडिया आफ माडर्न इराक में उसी अवधि में कुशाई (कोशाई) आर्यों का शासन व्यक्त किया गया है। एक भारतीय स्वतंत्र शोधकर्ता ने व्यक्त किया है कि लगभग ई.पू. १७०० में भारत से आर्यों का एक चक्रवर्ती विजयी अभियान आरंभ हुआ था जो काशी से लेकर जगन्नाथपुरी (कलिंग) तक की सम्मिलित सेना के द्वारा सम्पन्न हुआ था। इराक में उक्त कुशाई आर्यों का सर्वप्रथम नेतृत्व एकओम (एगओम) प्रथम नामक आर्य राजा के द्वारा माना गया है।

इन विजेता आर्यों ने वहां नगरीय संस्कृति के

स्थान पर चहुंमुखी ग्रामीण विकास की नीतियों को अपनाया था। ये आर्य संख्या में कम थे किन्तु स्थानीय नागरिकों से हिलमिल गए थे। उनके द्वारा विजित बेबीलोन नगर की पुरा सामग्री सुरक्षित रखी गई थी जबकि प्राय: बाहरी विजेता आकर ऐसी सामग्री को नष्ट कर देते थे। अत: यह ज्ञात नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों ने किस भावना के वशीभूत होकर उस समय को अंधकार युगीन माना।

सहज है कि फरात नदी का नाम भी तत्कालीन आर्यों के द्वारा भारत रखा गया हो। यह ज्ञात नहीं है कि क्या तत्कालीन इराक (ई.पू. १६०० से ई.पू. ११००) का नाम भी भारत था ? यह बृहद् शोध का विषय है कि क्या इराक का मूल भारत होने को छिपाने के लिए ही उन पाश्चात्य विद्वानों ने उसे अंधकार युग का नाम दिया था। साहित्य में भारत का अर्थ - **भा (प्रकाश)+ रत** होता है। प्रसंगवश रामाश्रम सत्संग (मथुरा) के प्रकाशित साधन-साहित्य में परिभाषित किया गया है कि "एक संत ने यह बताया कि जैसे सूर्य के चारों ओर नवग्रह घूम रहे हैं जिसे एक ब्रह्मांड कहते हैं, उसी प्रकार उस अनंत शक्ति (ईश्वर) के चारों ओर अनेक ब्रह्मांड चक्कर लगा रहे हैं। उसमें भारत का स्थान उस अनंत शक्ति के ठीक सामने पड़ता है। यों उसका प्रकाश सभी स्थानों पर पड़ता है पर इस देश पर प्रकाश सीधा आता है, इसलिए विशेष रूप से पड़ता है। बस इसीलिए इस देश को विशेष वस्तु प्राप्त हुई जिसे संतों की भाषा में प्रकाशरूप धर्म कहा जाता है। ऋषियों ने इसी को प्रमाणित किया है और इस देश को धर्मप्रधान देश कहा है। यह धर्म सम्प्रदाय का धर्म नहीं, भगवान् का वह प्रकाश है जिसे पाकर कोई भी व्यक्ति, जाति या देश धन्य हो जाता है। यह प्रकाश पैदा नहीं किया जाता, स्वाभाविक ही होता है। यह यहां का जन्मजात धर्म है, प्रकाश है।"

अत: भारत देश के नामकरण में धर्म और अध्यात्म की भावना मूलरूप से विद्यमान रही है। जिसकी महत्ता से ओत:प्रोत होकर भरत नामक चक्रवर्ती सम्राटों के द्वारा संभवत: इस एशिया भूखण्ड अथवा भू-भाग का नाम भारत रखा गया था।

-१२, महावीर नगर, जयपुर-३०२०१८

बुद्धिरेव जयत्येका पुंसः सर्वार्थसाधनी।
यद्बलादेव किं किं न चक्रे चाणक्यभूसुरः।।

बुद्धि मनुष्य की सभी कामनाओं की पूर्ति करती है। इसीलिए बुद्धि सर्वश्रेष्ठ है। बुद्धि के द्वारा मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता। क्योंकि बुद्धि से ही चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया।

आधुनिक उपन्यास द्वासुपर्णा में भारतीय संस्कृति

– डॉ. सरिता यादव

संस्कृत का आज पुनरभ्युदय हो रहा है। चक्रनेमिक्रमेण इसकी दशा पुनः ऊपर को उठ रही है। राष्ट्र की यह अक्षय निधि शनैः-शनैः जनता के सामने आ रही है। लोग इसके गौरव को फिर से पहचानने लगे हैं। इसके प्रति उपेक्षा एवं अवहेलना के भाव दूर होते जा रहे हैं और उसके स्थान पर श्रद्धा एवं अभिरुचि की भावनाओं का उन्मेष हो रहा है। किंबहुना, संस्कृत की माँग दिनों-दिन बढ़ रही है। आज जिस भारतीयता, भारतीय संस्कृति और संस्कृत साहित्य का हम अपने को दावेदार समझते हैं, अतीत काल से उसकी ख्याति को हम तक पहुँचाने में जिन विशिष्ट व्यक्तियों का हाथ रहा है, वे वही लोग थे, जिन्हें आज हम पंडित या विद्वान् कहते हैं। यद्यपि इन पंडितों या विद्वानों की आज जो अवस्था है उससे सभी लोग परिचित हैं। संस्कृत भारत की अपनी मूल भाषा है जिसका देववाणी दूसरा नाम उसकी अतिप्राचीनता का द्योतक है। भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की पूरी व्याख्या संस्कृतभाषा के वाङ्मय में समाविष्ट है। जितना भी साहित्य-वैभव विद्यमान है, वह सब संस्कृतभाषा में ही सुरक्षित है। भारत के ज्ञानमना महामनस्वियों के व्यक्तित्व एवं अध्यवसाय का आज हम अन्दाजा नहीं लगा सकते, जिन्होंने ऐसे सहस्रों ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें से एक ही ग्रन्थ के आमूल अध्ययन के लिए हमें एक दीर्घायु जीवन की आवश्यकता है।

प्रस्तुत द्वासुपर्णा उपन्यास में भारतीय संस्कृति का पर्यालोचन किया गया है। लेखक श्री रामजी उपाध्याय की जन्मभूमि बलिया मण्डल के अन्तर्गत सरयू के किनारे मलेजीति ग्राम है। बाल्यकाल में ग्रामशाला के मण्डल विद्यालय में गुरुओं के आश्रित रहे। इसके पश्चात् वाराणसी में तैलङ्गवंशीय महामहोपाध्याय श्री लक्ष्मणशास्त्री से संस्कृत-महावृक्ष के प्रारम्भिक कुसुमों को चखा। इसके पश्चात् प्रयाग विश्वविद्यालय से एम.ए.डी.,फिल की उपाधि प्रथम श्रेणी में प्राप्त की। श्री उपाध्याय जी सागर विश्वविद्यालय में व्याख्याता, प्रवाचक, प्राध्यापक एवं कला संकाय के अध्यक्ष पद पर अधिष्ठित रहे। अध्यापन काल में उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त की।

श्री उपाध्याय जी निरन्तर लेखन अध्यापन से भारतीय संस्कृति की सेवा करते हुए संस्कृत, हिन्दी एवं अंग्रेजी भाषा में प्रणीत प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं- Sanskrit and Prakrit Mahakavyas, प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, आधुनिक संस्कृतनाटककार

महाकवि कालिदास, द्वासुपर्णा संस्कृत निबन्धावली आदि। बीस वर्षों तक उन्होंने सागरिका नामक त्रैमासिक संस्कृत शोधपत्रिका का सम्पादन किया।

श्री उपाध्याय जी १९७८ में पुण्यपतन में अखिल भारतीय प्राचीन परिषद साहित्य-विभाग के अध्यक्षपद के लिए निर्वाचित किये गए। द्वासुपर्णा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय गुरुकुल-शिक्षा की प्रथा थी। गुरुकुलों में गुरुओं से राजाओं के पुत्र भी ब्रह्मविद्या एवं धनुर्विद्या आदि के ज्ञान के लिए आते थे। इन गुरुकुलों में सुदामा और कृष्ण, बलराम ने भी प्रवेश लिया था। श्री कृष्ण सुदामा को अपना ज्येष्ट भ्राता मानते थे और समय व्यतीत करते-करते दोनों घनिष्ठ मित्र गए। गुरुकुल की शिक्षा पूरी होने पर उनका समावर्तन संस्कार किया जाता था और वे सब अपने-अपने घर वापस आ जाते थे। श्री कृष्ण और सुदामा की घनिष्ट मित्रता को इस उपन्यास में प्रदर्शित किया गया है। उपन्यास में भारतीय संस्कृति को इस प्रकार वर्णित किया गया है-

वर्णव्यवस्था- द्वासुपर्णा में वैदिक पद्धति के अनुसार वर्णों का वर्णन किया गया है। लोग शाकाहारी भोजन ग्रहण करते थे जीवमात्र के कल्याण के लिए कार्य करते थे, दोनों सन्ध्याओं में हवन करते थे, ब्राह्मण अध्यापन कार्य भी कराते थे, प्रजा की रक्षा करने वाले क्षत्रिय कहलाते थे, वैश्य, कृषि आदि का कार्य करते थे और शूद्र सेवा का कार्य करते थे। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का उल्लंघन नहीं होता।

धार्मिक स्थिति- उस समय देश में वैदिक धर्म का प्रचार था। वैदिक यज्ञों, पूजा-पाठ आदि धार्मिक क्रियाएँ प्रचलित थीं। इससे यज्ञादि में राम जी उपाध्याय का अटल विश्वास दिखाई देता है। वह यज्ञ करना अपना नित्य कर्त्तव्य समझते हैं। वैदिक मन्त्रों के उच्चारण तथा यज्ञादि से पवित्र होने का कथन किया गया है।

विवाह- विवाह एक संस्कार है जिसमें वर-बधु जीवन पर्यन्त साथ रहने का व्रत लेते हैं भावनात्मक एकता के अभाव में दाम्पत्य-जीवन साररहित हो जाता है। विवाह से पूर्व कन्या के माता-पिता वर एवं उसके माता-पिता के लिए वस्त्र, आभूषण आदि उपहारस्वरूप देते थे। वर के पिता द्वारा भी उन उपहारों की स्वीकृति स्वरूप अपने संबन्धियों के लिए एवं माता द्वारा अपनी पुत्र-वधु के लिए वस्त्र आदि उपहार दिये जाते थे। विवाह से पूर्व वर के मस्तक पर कन्या पक्ष के पुरोहित द्वारा तिलक लगाया जाता और बाजे बजाए जाते थे। विवाह से एक दिन पूर्व वर के शरीर में तैलयुक्त उबटन का लेप करके सुगन्धित जल से स्नान कराया जाता था। कन्या के शरीर पर भी उबटन व पक्वतैल का लेप करके स्नान कराया जाता था। स्नान के बाद वर-बधु पूर्वाभिमुख होकर बैठते थे। वर-वधु ग्राम के मध्य में स्थित देवालय में लक्ष्मीनारायण की पूजा करने जाते थे। जब वर मण्डप में आ जाता था तो आरती के पश्चात् वधु द्वारा वर की सात परिक्रमा की जाती थीं। वर अपने दाहिने से कन्या के दाहिने चरण में पत्थर

के टुकड़े का स्पर्श कराता था। वर एवं वधु में जो पहले कंकण-ग्रन्थि को खोल देता था वही विजयी माना जाता था। सप्तपदी के बाद वर को ध्रुव तारे का दर्शन कराया जाता था? विवाह के पाँचवे दिन वर अपनी वधु सहित श्वसुर के घर जाकर कुछ दिन वहाँ रहकर, वधु सहित अपने घर आ जाता था। विवाह के समय घर को तोरण, मण्डप, बितान आदि से सज्जित किया जाता था। ग्राममार्ग के दोनों ओर पल्लवयुक्त जलपूर्ण कलश रखे जाते थे। कलश के चारों ओर दीप जलाये जाते थे। विवाह के कुछ दिन पूर्व से ही स्त्रियाँ वर-वधु के घर गीत गाती थीं।

नगर का जीवन- नगर में मध्यम वर्ग लोग अधिक रहते थे। वहाँ अट्टालिकायें होती थीं। नगर में प्रवेश के लिए पुरद्वार होते थे। पुरद्वार तोरणों से सजाये जाते थे। किवाड़ों पर कला-कृतियां होती थीं। नगरों में पक्षियों के लिए रक्षागृह होते थे। मयूर व कबूतर गाय आदि पशु पाले जाते थे। नगरों के चारों ओर उपवन व खाई होते थे। नगरों में मन्दिर शोभायमान होते थे।

मांगलिक कार्य एवं पदार्थ- आरती, घृत तथा दर्पण का दर्शन, ब्राह्मण एवं आत्मीयजन की अर्चना केशों में दूर्वा की स्थापना ये मांगलिक कार्य थे। गोमूत्र स्नान, स्वस्तिवाचन, अभिषेक दक्षिणा द्वारा ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करना, पुष्पवृष्टि मंगलगान तथा स्तुति आदि भी मांगलिक कार्य थे। यात्राकाल में दीप एवं कलश का दर्शन शुभ माना जाता था। यात्राकाल में गाय-देवता एवं ब्राह्मण का दर्शन, माला ताम्बूल आदि का दान शुभप्रद होता था। इसी प्रकार मृत्तिका एवं गन्धशिल्पा की वन्दना भी शुभ थी। हरिद्रा-कुंकुम-मिश्रित चन्दन द्वारा लिप्त दूर्वांकुर और नारियल ये मांगलकि पदार्थ थे। दूर्वा जलपूर्ण कलश, तिल, मृत्तिका, अंगुरपंक धान्य आदि पदार्थ मांगलिक माने जाते थे। सुगन्धित जल, पुष्प, दधि एवं अक्षत ये पूजा के साधन थे।

सामाजिक आचार- प्रात:काल उठकर बड़ों को प्रणाम किया जाता था। अत्यधिक पूज्य के लिए साष्टाङ्ग प्रणाम किया जाता था। प्रणाम करते समय नम्रता का व्यवहार किया जाता था। श्रीकृष्ण सुदामा और बलराम अपने गुरुओं को अधोमुख होकर प्रणाम करते हुए वर्णित हैं। गुरुजनों से बात करते समय भी नम्रता का व्यवहार किया जाता था। छोटे लोगों के प्रति उत्कण्ठित होते हुए भी बड़े लोग उनके आगमन पर गम्भीरता का आश्रय लेकर मर्यादा की रक्षा करते थे।

पुत्र अपने माता-पिता से दूर रहता हुआ भी मर्यादा की रक्षा करता था। पिता पुत्र को उचित शिक्षा देने के लिए उसके समक्ष गम्भीरता का आचरण करता था। पुत्र अपने पिता के समक्ष चंचलता का व्यवहार नहीं करता था। पिता का स्थान माता से न्यून था। सर्वप्रथम माता को तत्पश्चात् पिता को उसके बाद अन्य लोगों को प्रणाम किया जाता था। गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया जाता था। अतिथि अभिवादन का पात्र होता था, उसको आसन पर बिठाया जाता था। सभा में

वृद्धजन दाहिनी ओर बैठते थे। उनके पीछे अवस्थाक्रम से लोग बैठते थे। पत्नी पति की आज्ञा का पालन करती थी। दण्ड एवं कृपा द्वारा अपराध नष्ट हो जाता था। किसी कार्य से पूर्व पूज्य की सम्मति ली जाती थी। भिक्षुक सहिष्णु होते थे। गो-हत्या से व्यक्ति कलंकित हो जाता था। जीव-हत्या के लिए उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था। होली का उत्सव मथुरावासियों में युद्ध की तरह मनाया जाता था। इस अवसर पर स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध सभी गायन, नृत्य करते थे। इस अवसर पर दो पक्ष होते थे- १. स्त्रियों का पक्ष २. पुरुषों का पक्ष। उसमें लाठियों द्वारा एक दूसरे को गिराने तथा पिचकारी द्वारा रंग प्रक्षेपण का कार्य होता था। मथुरावासी 'तुम' की जगह तू का प्रयोग करते थे। वे विश्रामवाचक सुख के लिए 'चेन' शब्द का प्रयोग करते थे। उत्सव के समय स्त्रियाँ नृत्य, गायन व वादन करती थीं। हरिद्रा एवं तैल का छिड़काव करती थीं।

वेष- पुरुष धोती-कुर्ता पहनते थे। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। उनके मुख पर घूंघट रहता था। वस्त्रों पर छोटी-छोटी घंटियां लगी होती थीं। ९७

पुरुषों का आभूषण-बाजूबन्द कुहनी के ऊपर भुजा में पहना जाता था। कंगण मणिबन्ध में एवं मुद्रिका अंगुली में पहनी जाती थी। करधनी कमर में पहनी जाती थी।

स्त्रियों के आभूषण- ललाटिया शिर पर धारण की जाती थी। कान में कर्णफूल धारण किये जाते थे। मुक्ताफल नाक में पहना जाता था। गले में हार कटि में मेखला पैर में पायजेब एवं नुपूर, पैर की अंगुली में बिछिया धारण की जाती थी। स्त्रियाँ केशों में रत्न गूंथती थीं।

पुष्पाभूषण- पुष्पों के आभूषण भी धारण किये जाते थे। स्त्रियां वेणी में पुष्प गूंथती थीं। नवीन पत्तों से भी अपने को अलंकृत करती थीं।

प्रसाधन- स्त्रियों द्वारा केशों को सुखाने के लिए धूप का प्रयोग होता था। वे ललाट पर अगरू चन्दनरस व कस्तूरी का तिलक लगाती थीं। कुंकुम का तिलक भी लगाया जाता था। स्त्रियाँ पैरों में महावर लगाती थीं।

मनोविनोद- काव्यपाठ तथा शास्त्रार्थ मनोरंजन के साधन थे। वाद्य का प्रयोग कलाओं के अनुसार होता था। वे नृत्य को कला की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार द्वासुपर्णा उपन्यास में श्रीरामजी उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति को प्रदर्शित किया है।

-W/o. नितिन कुमार, गाँव व डाकखाना-माजरी कलाँ, तहसील-नीमराना, जिला अलवर (राज०) ३०१७०३

न्यायदर्शन में प्रमाणमीमांसा

–डॉ. पुष्पेन्द्र जोशी

सृष्टि एवम् उनके मूल कारण का अनुसन्धान तत्त्वज्ञ दार्शनिकों के लिए सृष्टि के आदिकाल से ही गहन चिन्तन एवं मनन का विषय रहा है। सभी दार्शनिकों ने अपनी-अपनी रुचि, परिस्थिति या भावना से उस वस्तुतत्त्व को जैसा देखा, उसी को दर्शन कहा। इस प्रकार अनादि जिज्ञासा के समाधान में प्रवृत्त शास्त्र का नाम ही दर्शन है- 'दृश्यते अनेनेति दर्शनम्'। महर्षि गौतम प्रणीत न्यायदर्शन एक तत्ववादी दर्शन है। इन्हें मेधातिथि तथा अक्षपाद भी कहा जाता है।

न्याय एक तर्कप्रधान शास्त्र है। वात्स्यायन ने इस की परिभाषा इस प्रकार की है- 'प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः'। इस विषय में उद्योतकर का मत है कि 'सब प्रमाणों के द्वारा अर्थ का निश्चय करना ही न्याय है। एक-एक प्रमाण अर्थ का बोधक हेतु के रूप में व्यवस्थित होकर न्याय नहीं कहलाता; किन्तु सब प्रमाण मिलकर ही अन्तिम न्याय कर सकते हैं।"[१] न्यायदर्शन प्रमेय, प्रमाण आदि षोडश पदार्थों को मानता है। न्यायसूत्र में प्रतिपादित प्रमाण-प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के वास्तविक ज्ञान से मोक्षप्राप्ति मानी गई है। जहां तक प्रमाणों की मान्यता का सम्बन्ध है दर्शनशास्त्र में इस दिशा में एकता नहीं है। प्रमाणों की संख्या एक से प्रारम्भ होकर ८ तक मानी गई है। जैसे चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान दो प्रमाण मानते हैं। सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा उपमान तीन प्रमाण को मानते हैं। न्याय-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द इन चार प्रमाणों को मानते हैं।

प्रमाणों की क्रमव्यवस्था के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद ने निरूपण किया है कि सर्वप्रथम प्रत्यक्ष को इसलिए रखा गया है क्योंकि वह अन्य सभी ज्ञानों का करण है तत्पश्चात् अनुमान को इसलिए रखा गया है क्योंकि अनु-पश्चात् अर्थात् प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान से ज्ञात अर्थों की ही स्मृति होती है। अतः इन दोनों के पश्चात् स्मृति का निरूपण हुआ है। आर्षज्ञान केवल लोकोत्तर पुरुषों को ही हुआ करता है। अतः इसका वर्णन लौकिक प्रमाणों के अनन्तर ही किया गया है।[२]

'किसी भी वस्तु के यथार्थ ज्ञान व अनुभव के लिए उसके साधन (प्रमाण) का होना नितान्त आवश्यक है। प्रमाण के बिना किसी भी वस्तु का वास्तविक ज्ञान नहीं हो सकता है। प्रमाणपूर्वक सिद्ध वस्तु व सिद्धान्त ही प्रेक्षावान् पुरुषों के लिए मान्य हो सकता है।[३] न्यायशास्त्र प्रधानतः प्रमाणशास्त्र ही है। प्रमाण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि- 'प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्'। वात्स्यायन ने उपलब्धि अर्थात् ज्ञान के साधन को प्रमाण कहा है 'उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानि' उद्योतकर के मत में 'उपलब्धिहेतुः प्रमाणम्, उपलब्धिहेतुत्वं प्रमाणत्वम् यदुपलब्धिनिमित्तं तत्प्रमाणमिति[४]' कहा गया है। माधवाचार्य के मत

१. उद्योतकर, 'न्यायवात्तिक' शास्त्री, निवास (व्याख्याकार)
२. प्र. पा. भा. पृष्ठ. १५३
३. भट्टाचार्य, अभेदानन्द, 'न्यायदर्शन का प्रमाण चतुष्टय' पृ. -१२.
४. उद्योतकर, 'न्यायवात्तिक', पृ. १०

में प्रमाण वह है जो साधनों (यथार्थानुभव के साधन, नेत्र, कर्ण, नासिका इत्यादि) तथा आश्रय (यथार्थ अनुभव के आश्रय आत्मा) से पृथक् न हो एवं जो प्रमा (यथार्थ अनुभव)पर आश्रित हो।[५] यथार्थ अनुभव का अर्थ है वस्तु का यथार्थ ज्ञान। जैसे पीत का ज्ञान पीतरूप में होना न कि नीलरूप में। अत: नैयायिकों का मत है कि जिस वस्तु का जो धर्म है उस धर्म का उसी वस्तु में लक्षित होना। यथा-घटे घटत्वम्, पटे पटत्वम् । प्रमा (यथार्थ ज्ञान) का करण (साधन) प्रमाण है इस आधार पर प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति व शब्द के यथार्थ ज्ञान के साधन क्रमश: प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शाब्द हैं।

महर्षि गौतम के अनुसार प्रमाणों में सर्वप्रथम प्रत्यक्ष प्रमाण की विवेचना प्राप्त होती है 'प्रतिगतम् अक्षम् प्रत्यक्षम् इति'। जो ज्ञान इन्द्रियों और पदार्थ के सन्निकर्ष (समीपता) से उत्पन्न होता है उसें प्रत्यक्ष कहते हैं।[६] प्रत्यक्ष शब्द के मूलत: तीन अर्थ स्वीकार्य हैं- (क) प्रत्यक्ष प्रमाण (ख) प्रत्यक्ष प्रमाण से होने वाला ज्ञान, (ग) प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय। अन्नम्भट्टानुसार भी इन्द्रिय व पदार्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है।[७] इसी सन्दर्भ में विश्वनाथ ने प्रत्यक्ष के छ: भेदों का इस प्रकार उल्लेख किया है। घ्राणजं, रासनं, चाक्षुषं, स्पार्शनं, श्रौत्रं, मानसमिति षड्विधं प्रत्यक्षम्। प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रामाणिकता भी इसी बात में है कि इसका ज्ञान संशयरहित होता है। यह यथार्थ व निश्चित होता है इसे किसी अन्य से प्रमाणाश्रित नहीं होना पड़ता। यही कारण है कि समाज में इस सम्बन्ध में 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' की लोकोक्ति प्रसिद्ध हो गयी। प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद हैं- निर्विकल्पक एवं सविकल्पक[८]। निर्विकल्पक ज्ञान वह है जो केवल वस्तु के स्वरूपमात्र का ग्रहण करवाता है- यथा नेत्र और घट के संयोग से जो तात्कालिक ज्ञान उत्पन्न होता है, यह पदार्थ का ज्ञान तो होता है परन्तु उसके नाम, जाति, गुण आदि का ज्ञान नहीं होता। सविकल्पक ज्ञान विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध को ग्रहण कराने वाला होता है यह ज्ञान नाम, जाति आदि विशिष्ट विशेषणों से युक्त होता है। जैसे- यह नीला घड़ा है, यह पीला है इत्यादि।

अन्नम्भट्ट ने छ: प्रकार के सन्निकर्ष का परिगणन किया है संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय, विशेषणविशेष्यभाव।[९] इन उपर्युक्त षड्विध सन्निकर्ष के ही माध्यम से नैयायिकों के द्वारा निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से सविकल्पक प्रत्यक्ष की सिद्धि की जाती है।

प्रमाण प्रसंग में बौद्ध दार्शनिक तो केवल निर्विकल्पक को ही प्रत्यक्ष मानते हैं दिङ्नागाचार्य ने 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नामजात्याद्यसंयुतम्' इस प्रकार प्रत्यक्ष की परिभाषा की है।[१०]

अनुमान प्रमाण- नैयायिकों के अनुसार अनुमिति का करण (साधन) अनुमान है।[११] अनुमान प्रमाण से अभिप्राय है कि इससे पूर्व में किसी विशिष्ट रूप में प्रत्यक्ष ज्ञान हो चुका है। अनुमिति एक यथार्थ ज्ञान है जो प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु किन्हीं

---

५. सर्वदर्शन संग्रह, पृ. ३८९

६. (क) न्यायसूत्रम् १.१.४ (ख) तर्कभाषा, पृ. ४६

७. तर्कसंग्रह:, पृ. ४२

८. तर्कसंग्रह, पृ. ४२

९. (क) अन्नम्भट्ट 'तर्कसंग्रह' व्याख्याकार/सम्पादक, सत्कारिशर्म वङ्गीय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी पृ. ४३
(ख) विषयेन्द्रियसम्बन्धो व्यापार: सोऽपि षड्विध:। द्रव्यग्रहस्तु संयोगात्संयुक्तसमवायत:।।

१०. प्रमाणसमुच्चय, १.

११. अन्नभट्ट, तर्कसंग्रह, पृ. ४७.

विशिष्ट कारणों से प्रतीत हो जाता है इस प्रकार के ज्ञान को जो प्रमाण करवाता है वह अनुमान प्रमाण है। अन्नम्भट्ट ने अनुमान प्रमाण के दो भेद कहे हैं– स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान।[१२] गौतम ने अनुमान के तीन भेद किये हैं– पूर्ववत्, शेषवत् व सामान्यतोदृष्ट।[१३] न्याय में अनुमिति के अवगमन के लिए साध्य, पक्ष, विपक्ष, और हेतु का ज्ञान परमावश्यक है। साध्य उस स्थिति में होता है जब प्रत्यक्ष ज्ञान न होने की स्थिति में किसी सन्दिग्ध वस्तु को अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है। यथा– धूमं दृष्ट्वा अग्नेः अनुमानम् इति।

जिस आधार पर सन्देह किया जाए वह पक्ष है। यथा 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमत्वात्'। इस में पर्वत पक्ष है, क्योंकि उसी पर अग्नि का सन्देह है, इसके पश्चात् हेतु पर विचार किया जाता है पक्ष में साध्य सन्देह जिस कारण से होता है वह हेतु है जैसे 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्वात्'। यहां धूम हेतु है क्योंकि धूम के कारण ही अग्नि का सन्देह उत्पन्न होता है। स्वार्थानुमान उसे कहते हैं जिसमें व्यक्ति स्वयं बार–बार रसोईघर इत्यादि में धूम एवम् अग्नि की व्याप्ति (साहयचर्य) को ग्रहण करता है तत्पश्चात् पर्वत से उठते हुए धूम को देखकर वहां अग्नि के विषय में सन्देह करता हुआ पर्वत पर विद्यमान धूम के दर्शन से जहां धूम होता है वहां अग्नि होती है, ऐसा सोचता हुआ पर्वत पर आग है, ऐसा निश्चय कर लेता है। यह स्वार्थानुमान होता है, परन्तु 'जब स्वयं धूम से अग्नि का अनुमान करके दूसरों को समझाने का प्रयत्न करेगा वह परार्थानुमान कहलाता है।'[१४] उसमें पांच अवयव होते हैं।

उपमान प्रमाण– जब सादृश्य का बोध कराने वाले वाक्य का स्मरण करके सदृश वस्तु का ज्ञान होता है उसे उपमान कहते हैं।[१५] अन्नम्भट्ट का मानना है कि जब प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य से ज्ञेय वस्तु का ज्ञान हो तब उपमान प्रमाण होता है यथा कोई व्यक्ति 'गवय' नामक जंगली जीव को नहीं जानता किन्तु जब वह किसी के द्वारा यह समझ लेता है कि 'गवय' गौ के समान होता है तभी उसे 'गवय' को पहचानने में विलम्ब नहीं होता इसी उपमिति[१६] के आधार पर ज्ञान हो जाता है कि यही 'गवय' है।

शब्द प्रमाण– आप्त वाक्य को शब्द प्रमाण माना गया जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही बतलाने वाला आप्त होता है। आप्तपुरुष वह होता है जिसे विवेच्य विषय का गूढ़ ज्ञान हो। जिसमें स्मृतिलोप या ज्ञानेन्द्रियों की अक्षमता सम्बन्धी कोई दोष न हो।[१७]

इन प्रमाणों से ही प्रमेयों अर्थात् वस्तु के यथार्थ ज्ञान का परीक्षण होता है। न्यायदर्शन में प्रमाणमीमांसा (*Epistemology*) का प्रधानतः वर्णन किया है। इस आधार पर स्पष्ट है कि नैयायिकों के प्रमाणविषयक विमर्श का दर्शन– शास्त्र में अतीव महत्त्व है।

–संस्कृत व पालि विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला, पंजाब, १४७००२।

१२. 'अनुमानं द्विविधम् स्वार्थं परार्थं चेति', तर्कसंग्रह, पृष्ठ. ५१

१३. अर्थ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च। न्यायसूत्र, १.१.५

१४. 'यत्तु स्वयमेव धूमादग्निमनुमाय परप्रतिपत्त्यर्थं पञ्चावयववाक्यं प्रयुङ्क्ते तत्परार्थानुमानम्', तर्कसंग्रह, पृष्ठ ५१.

१५. 'उपमितिकरणमुपमानम्,' तर्कसंग्रह, पृ. ६३

१६. 'संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञानमुपमिति', तर्कसंग्रह, पृ. ६३

१७. आप्तवाक्यं शब्दः, आप्तस्तु यथार्थवक्ता, तर्कसंग्रह, पृ. ६४.

वेद तथा वसुधैव कुटुम्बकम्

– श्री कमल किशोर

वेद विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय है। भारत की सनातन मान्यताओं के अनुसार वेद सर्वज्ञ भगवान् की लोकहिताय रचना है। शास्त्रों में सम्पूर्ण वेद का धर्म मूलरूप में आख्यान किया गया है– ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्''। वेद की समस्त शिक्षाएँ सार्वभौम हैं। वेद मानवमात्र को हिन्दू, सिख, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि कुछ भी बनने के लिये नहीं कहते। वह ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' तथा ''आत्मवत्सर्वभूतेषु'' की भावना पल्लवित करते हुये नए-नए आदर्शों की स्थापना करके मानव-जीवन में सुख-शान्ति का संचार करते हैं।

वेदों में कहीं लोगों को बुद्धिमान्, विद्वान्, ज्ञानी और जीवन-दर्शन में निष्णात होने का उपदेश दिया गया है, तो कहीं पारस्परिक एकता, सौमनस्य, संगठन, बलिष्ठता, उन्नति, आर्थिक प्रगति तथा मातृभूमि के प्रति असीम प्रेम रखने का निर्देश भी दिखाई देता है। वनस्पतियों की रक्षा, पर्यावरण-सुरक्षा, औषधि-निर्माण, वर्षा, क्षमाभाव, पवित्रता, विद्यार्जन, शान्तिस्थापन तथा पशु-पक्षियों के प्रति प्रेम की भावना का निदर्शन करने वाले अनेक मन्त्र वेदों में पाए ज़ाते हैं। मानव-जीवन के आचार एवं मातृभूमि की उन्नत्ति के परस्पर सम्बन्ध को दृग्गत करते हुए अथर्ववेद में कहा गया है कि सत्यपालन, हृदय की विशालता, सरल आचरण, वीरता, कार्यदक्षता, सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों की सहिष्णुता, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्नता, विद्वानों का सत्कार-ये गुण मातृभूमि की रक्षा करते हैं। भूत, वर्तमान, भविष्य में हमारा पालन करने वाली हमारी मातृभूमि हम सभी के लिये अपने लोक को विस्तार दे।[1] जिस मातृभूमि में हमारे पूर्वजों ने अपूर्व पराक्रम किये, सदाचार, तप और राष्ट्र की रक्षा की, जहां देवों ने असुरों को पराजित किया, जो पशु एवं पक्षियों का आश्रयस्थान है। वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य एवं वर्चस्व प्रदान करें।[2]

वैदिक लोग मातृभूमि के प्रति माता का भाव रखते थे।[3] वेदों की अनेक ऋचाओं में अपनी इला (मातृभूमि), सरस्वती (मातृसंस्कृति) और मही किंवा भारती (मातृभाषा) के प्रति एकसाथ समादरभाव का उल्लेख मिलता है। इन्हें देवी का दर्जा दिया गया है, ये सुखदायिनी हैं अतएव इनको सदैव प्रतिष्ठित रहने की कामना की गई है।[4] वेदों में नदियों, पर्वतों वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट की गई है क्योंकि यह सब कौटुम्बिक एकता में सहायक हैं।[5]

वेदों में विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व की भावना का पूर्णरूपेण समावेश है। वहाँ जगदीश्वर से प्रार्थना की गयी है कि हे जगदीश्वर! आप हमें ऐसी बुद्धि दें कि हम सब परस्पर मिल-जुल कर एकसाथ चलें, एकसमान मीठी वाणी बोलें और एक-समान हृदयवाले होकर स्वराष्ट्र में उत्पन्न धन-धान्य और सम्पत्ति को परस्पर समानरूप से बांटकर भोगें। हमारी हर प्रवृत्ति राग-द्वेषरहित परस्पर प्रीति बढ़ानेवाली हो।[6]

किन्तु यह भावना तभी सार्थक रह सकती है जब सब का ज्ञान, चिन्तन और मन समान हो, सभी जन कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय एक मन से करते हों, सबकी कल्पनाएँ समान हों, सभी के हृदय परस्पर मिलते हों, समाज में परस्पर द्वेषभाव न हो। पुत्र-पुत्रियां, माता-पिता इच्छानुसार प्रसन्नतापूर्वक आचरण करते हों, पति-पत्नी के मध्य निरन्तर मधुर भाव हो, भाई-भाई और बहनों में द्वेष का लेश न हो

१. अथर्व. १२/१/१ २.अथर्व. १२/१/५
३. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः अथर्ववेद- १२ एवं भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ. १९
४. ऋ ७/५६/९, १/१३/९, १/४२/९ ५. ऋ ३/५४/२०, ८/३१/१० ६.ऋ १०/१९/१२७. अथर्व., ३/३०/३

और सभी परस्पर भद्रभाव रखते हों, वाणी और व्यवहार में निश्चल मधुरता हो। साथ ही परस्पर कल्याण की कामना करते हों।[7] समस्त दिशाओं में अवस्थित निखिल प्राणी मेरे मित्र और हितकारी बने रहें और मैं भी उन सबका हितकर मित्र बना रहूं। समस्त प्रदेश में अवस्थित जन मेरे प्रति संताप एवं उपद्रव के बीजभूत शत्रुभाव से रहित हों। तुम्हारे या अन्य किसी के प्रति भी हम द्वेषभाव नहीं रखते, प्रत्युत प्रेम-सद्भाव ही रखते हैं, इसलिये हमें परस्पर अभय ही बने रहना चाहिये। कोई भी हमारे प्रति द्वेषभाव न रखे, प्रत्युत प्रेम-सद्भाव ही रखें।[8] इस प्रकार परस्पर मित्रभाव रखने से ही मानव सच्चा मानव बनकर सर्वत्र सुखपूर्ण स्वर्गीय दृश्य का निर्माण कर सकता है। मैत्री की भावना वेद की आधारभूत भावना है और इस भावना के आयाम विशाल हैं, विश्वजनीन हैं।

भारतीय संस्कृति मे यह मैत्री-भावना वेद, उपनिषद् से लेकर आगे से आगे विस्तृत होते हुए आध्यात्मिक साधना के चार अङ्गों, करुणा, मुद्रिता और उपेक्षा में, प्रथम स्थान पर आरूढ़ हुई। विश्व के इतिहास में देशों-देशों, वर्गों-वर्गों और सम्प्रदायों-सम्प्रदायों के बीच सदा इस भावना का महत्त्व रहा है। एक दूसरे से भयभीत आज के संसार के देशों को, आज जितनी आवश्यकता पारस्परिक मैत्री की भावना की है, उतनी कदाचित् किसी दूसरी भावना की नहीं है।

कौटुम्बिक एकता के लिए जीवन में उदारता अर्थात् परस्पर लेने-देने की, परस्पर विश्वास की और एक दूसरे की पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहने की प्रवृत्ति अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिए यजुर्वेद के ऋषि और्णवाभ का यह कथन सदा स्मरणीय है- **देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते।**[9]

विषमभाव अशान्ति एवं दुःख का प्रयोजक है तथा समभाव शान्ति और आनन्द का अविभावक है। इसका प्रत्यक्षानुभव मानव को अपने लौकिक व्यवहार में भी होता रहता है। परमार्थ-कल्याण मार्ग में विषमभाव का त्याग नितान्त अपेक्षित है, इसके बिना समभाव का लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः विषमभाव का विष के समान परित्याग करके अमृत के समान समभाव को धारण करने के लिये वेद-भगवान् इस प्रकार उपदेश देते हैं कि- आप सभी मानव संकल्प, निश्चय, प्रयत्न एवं व्यवहार, समान समभाव वाले सरल, कपटादि दोष रहित, स्वच्छ रहें, एवं आप सब मानवों के हृदय भी समान निर्द्वन्द्व, हर्ष-शोकरहित समभाव वाले रहें तथा सब मानवों का मन भी समान-सुशील, एक प्रकार से सद्भाव वाला रहे। जिस प्रकार आप सबका शोभन साहित्य-धर्मार्थादि का समुच्चय सम्पादि हो, उसी प्रकार आपके आकृति-हृदय एवं मन हों।[10]

यजुर्वेद के शंयु ऋषि का यह मानना है कि जहां परस्पर सौमनस्य होता है वहीं कौटुम्बिक एकता और सुख-शान्ति का संचार होता है, यह सबको जान लेना चाहिए।[11]

आज के इस संक्रान्ति-युग में- कृण्वन्तो विश्वमार्यम् - का उद्घोष है। हमारे ऋषियों ने जो सदाचार, नैतिकता, आध्यात्मिकता की शिक्षा विश्व को दी है, उसे आज पुनः जागृत करना है, क्योंकि तप-त्याग से हमारी सोई हुई आत्मिक शक्तियाँ जागृत होती हैं, संतोष, शान्ति तथा-सदाचार का पालन हमें पूर्णता की ओर अग्रसर कराते हैं, वसुधैव कुटुम्बकम् का बोध कराते हैं। स्वार्थ मनुष्य को बौना बनाता है। उदारता तथा विनयशीलता - ये सद्गुण भूमा-सुख की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करते हैं, जिसमें मानवमात्र का विकास होता है। वेद इसी ओर संकेत करता हुआ सभी को प्रेरित करता है कि सभी के प्रति आत्मिकभाव रखते हुए यही कामना करें कि- सभी प्राणी सुखी हों, सभी रोग रहित हों, जीवन में सभी लोग कल्याण के मार्ग पर चलते हुए कभी भी दुःखी न हों।

- जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

७. अथर्व., ३/३०/३ ८.यजु., ३६.१८ ९. यजु., ३/५० १०. ऋ. १०/१९१/४ ११. यजु., ३/४२

वेदों में धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र परक मूल-तत्त्व

–सुश्री सलोनी

वैदिक साहित्य सम्पूर्ण विद्याओं का स्रोत है। यजुर्वेद में वेद को मनुष्यों तथा देवताओं को ज्ञान प्रदान करने वाला एवं सत्यमार्ग प्रदर्शक बताया गया है।[१]

धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र पर भी वेदों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। मनुस्मृति का स्पष्ट कथन है कि धर्म की जो व्याख्या मनु जी ने की है, वह सब कुछ वेद में पूर्व ही वर्णित है। वहां वेदों को सर्वज्ञ स्वीकार किया गया है।[२]

'ऋग्वेद' में देवताओं से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि–

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान्।
अर्यमा देवैः सजोषाः।।[३]

धर्मशास्त्र के साथ ही साथ नीतिशास्त्रों ने भी वेदोक्त नीति-सिद्धान्तों को ही आधार बनाया है।

ऋग्वेद का 'नासदीय सूक्त' सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालता है। इस सूक्त में बताया गया है कि सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व जल ही विद्यमान था। सृष्टि की उत्पत्ति होने के समय सर्वप्रथम वह 'काम' अर्थात् सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा उत्पन्न हुई जोकि परमेश्वर के मन में सर्वप्रथम सृष्टि का बीज रूप कारण हुआ।[४]

इस प्रकार परमेश्वर को ही सृष्टि का बीज कहा गया है। महर्षि मनु का भी कथन है कि ब्रह्मा जी अपने अहोरात्र के अन्त में जागकर अपने मन को सृष्टि की रचना में लगाते हैं और तदनन्तर लोकत्रय की उत्पत्ति करते हैं।[५] इस प्रकार के वर्णन से धर्मशास्त्र पर वैदिक विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है।

आधुनिक समय में हिंसा की घटनायें सम्पूर्ण विश्व के लिये चिन्ता का विषय बनी हुई हैं। वेदों में अहिंसा के महत्त्व का विस्तार से वर्णन मिलता है।[६]

अन्यत्र अश्विनौ सूक्त में अश्विनौ से प्रार्थना की गयी है कि आप दोनों अश्विनी कुमार दिन-रात हमसे हिंसा को दूर रखें।[७]

वैदिक अहिंसा की धारणा को पुष्ट करते हुए महर्षि मनु ने मोक्ष प्राप्ति के छः साधनों में अहिंसा को भी स्थान दिया है।[८]

हिंसा की प्रवृत्ति से विमुख होने की शिक्षा देते हुए नीतिशास्त्रकार नारायण पण्डित का कहना है कि मानव को जिस प्रकार अपने प्राण प्रिय होते हैं, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अपना जीवन प्रिय होता है। इसलिए अपने प्राणों के समान दूसरे के प्राणों पर भी दया की भावना रखनी चाहिए।[९]

वेदों में यज्ञों का विस्तृत वर्णन होने पर भी वहां हिंसा से रहित यज्ञ की कामना की गई है[१०]–

अग्ने यं यज्ञमध्वरं, विश्वतः परिभूरसि।
तेना वह सुकृतो अध्वराँ उप येत्वा गृणन्ति वह्नयः।।

आचार्य यास्क ने वेद में प्रयुक्त इस 'अध्वर' शब्द को यज्ञ का पर्याय स्वीकार किया है। इस शब्द का निर्वचन करते हुए उनका कथन है कि इसे 'अध्वर' इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें हिंसा नहीं होती।[११]

जो लोग यज्ञ में हिंसा की बात करते हैं, उनके

---

१. यजुर्वेद, २/२१, २. मनुस्मृति, २/७ ३. ऋग्वेद, १/९०/१ ४. वही, १०/१२९/४
५ मनुस्मृति, १/७४-७५ ६. ऋग्वेद, ७/८३/२ ७. वही, ७/७१/१ ८. मनुस्मृति, १२/८३
९. हितोपदेश, १/१२ १०. ऋग्वेद, १/१/४, वही, १/४८/११
११. अविद्यमानो ध्वरो (हिंसा) यस्मिन् सोऽध्वरः (निरुक्त, १/३)

विषय में तो कहना ही क्या, प्राचीन समय में तो वृक्षों में भी जीवात्मा मानते हुए विष्णुशर्मा तो वृक्षों को काटना भी महापाप समझते हुए लिखते है कि यज्ञ हेतु वृक्षों को काटकर, पशुओं को मारकर तथा रक्त की नदी बहाकर यदि स्वर्ग की प्राप्ति होती है तो फिर नरक की प्राप्ति करवाने वाला कौन–सा कार्य है।[१२]

यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में ऋषि कहते हैं कि– **मा गृधः कस्यस्विद्धनम्** यह धन किसी का भी नहीं है, अतः लोभ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार कहकर लालच न करने का उपदेश देते हुए सभी भोग्य पदार्थों का त्याग भाव से उपभोग करने को कहा गया है। हितोपदेशकार ने भी लोभ की निन्दा करते हुए इसे क्रोध, काम, मोह एवं नाश का उत्पादक माना है एवं पाप का कारण स्वीकार किया है।[१३]

शुक्रनीति में कहा गया है कि जैसे अपनी सन्तान को गुणवान् बनाने में पिता निपुण होता है, वैसे ही पितारूपी राजा को अपनी सन्तानरूपी प्रजा को गुणवान् बनाने में सदैव तत्पर रहना चाहिये।[१४]

राजा के गुणों का निर्धारण करते हुये आचार्य शुक्र का कहना है कि राजा में धार्मिक तत्परता, प्रजापालन, दानवीरता, क्षमाशीलता, विजयशीलता आदि गुण अनिवार्य हैं।[१५]

नीतिग्रन्थों में राजा एवं प्रजा में पिता एवं सन्तान की कल्पना का मूल हमें वेदों में दृष्टिगोचर होता है। वेद में राजा को पिता तुल्य मानते हुये उसमें विभिन्न विशेषताओं का होना अनिवार्य बताया गया है, जिनमें अत्यधिक योग्यता, सुस्थिर रहकर कार्य करना, प्रजापालन आदि प्रमुख रूप से कहे गए हैं।[१६]

स्त्री महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए वेद का कहना है कि पत्नी विविध प्रकार से पति की प्रगति में सहायक एवं अनेक रूपों में उसके लिए कल्याणकारी होती है।[१७]

वेद प्रतिपादित नारीसम्मान एवं महत्त्व का अनुसरण करते हुये नीतिग्रन्थ का कहना है कि घर को घर नहीं कहा जा सकता, वास्तव में पत्नी ही घर कहलाती है। तात्पर्य है पत्नी के अस्तित्व से ही घर का अस्तित्व होता है। अन्यथा वह तो एकमात्र ईंट–पत्थर से बना हुआ ढाँचा मात्र है।[१८]

वैदिक साहित्य में दान को अत्यधिक महत्त्व देते हुए कहा गया कि जो व्यक्ति याचकों को धन प्रदान करता है, उसे देवताओं से प्रचुर–मात्रा में धन–सम्पदा आदि की प्राप्ति होती है।[१९]

धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु भी कलियुग में केवल दान को ही प्रधान धर्म स्वीकार करते हुए कहते हैं कि–

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।।[२०]

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार व्यक्ति को सामर्थ्यानुसार प्रतिदिन दान देना चाहिए एवं विशेष अवसर पर विशेष रूप से दान करना चाहिए। यह दान सत्पात्र को श्रद्धा के साथ यथाशक्ति करते रहना चाहिए।[२१]

नीतिशास्त्रकार आचार्य चाणक्य ने भी दान को धर्म की संज्ञा प्रदान करते हुये दानवीर को सबसे बड़ा शूरवीर माना है– 'दानं धर्मः।' (चाणक्यसूत्र, १५५) 'अतिशूरो दानशूरः।' (चाणक्यसूत्र, ४२६) इस प्रकार कहा है।

उपर्युक्त सभी विवरण वैदिक विचारधारा को धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में वर्णित विषय–वस्तु का मूल सिद्ध करते हैं।

–शोधछात्रा, संस्कृत विभाग, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर।

१२. पञ्चतन्त्र, ३/१०५
१३. हितोपदेश, १/२७
१४. शुक्रनीति, १/६०
१५. वही, १/२२–२३
१६. यजुर्वेद, ९/२
१७. वही, २९/३०
१८. पञ्चतन्त्र, ३/१४५
१९. ऋग्वेद, १/१२५/२
२०. मनुस्मृति, १/८६
२१. आचाराध्याय, २०३

श्रीमद्‌भागवत पुराण में वर्णित 'सृष्टि तत्त्व'

– सुश्री किरन त्रिपाठी

श्रीमद्‌भागवतपुराण का पौराणिक ग्रन्थों में 'सृष्टितत्त्व' के विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी पुराणों में सृष्टि-तत्त्व के रहस्यात्मक विषयों के महत्त्वपूर्ण पक्षों के संकेत मिलते हैं। श्रीमद्‌भागवतपुराण में शुकदेवमुनि से परीक्षित रहस्यमयी सृष्टि को ज्ञात करने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो शुकदेवमुनि श्रीकृष्ण को सर्वस्व मानते हुए उन्हें ही सृष्टि के विकास-विनाश के आश्रय बताते हुए श्रीकृष्ण के ही गुणों के धारक त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश को उत्पत्ति, पालक एवं विनाश के कारण स्वरूप विवेचन करते हैं। पाञ्चभौतिक चर-अचर में आत्मास्वरूप, एकादश इन्द्रियों के संचालक श्री नारायण को विराट पुरुष के अङ्ग प्रत्यङ्गों से सृष्टि-प्रक्रिया को पूर्ण करने का विवेचन करते हैं। इस तरह नारायण से वेद, देवता एवं समस्त लोकादि प्रकाशित हैं।[1] इन विराट-पुरुष से प्रभावित होकर माया सर्वत्र क्रियाशील होती है, किन्तु स्वयं परमात्मा भी माया से मोहित होकर गुण, द्रव्य, ज्ञान, कार्य, कारण में सहायक है।

अन्य पुराणों में वर्णित सृष्टि-रचना में सहायक काल, कर्म एवं स्वभाव से जो गुणों से संयुक्त था, उसमें विक्षोभ अर्थात् हलचल होने से परिवर्तन हुआ। जिससे ब्रह्मा प्रकृतिरूप में माया को तीन भागों में- वैकारिक, तैजस, तामस शक्तियों में विभक्त कर उन्हें ज्ञान, क्रिया एवं द्रव्य द्वारा सृष्टि को संचालित करता है। इस तरह यह सृष्टि प्राकृतिक स्वरूप को धारण करते हुए पञ्चभौतिक कही जाती है।[2]

वेदादि उपनिषद् पुराण एवं स्मृति ग्रन्थों में सृष्टि से पूर्व की स्थिति के पर्याप्त संकेत मिलते हैं। मुख्यतः मनुस्मृति में जल की सृष्टि में ब्रह्मा बीज रूप से अण्डाकार रूप थे अर्थात् ब्रह्मा ही बीज हैं एवं वह बीज जल में स्थित था, जलधारा को 'नारा' कहते हैं, वह बीज 'नर' रूप पुरुष का उद्‌भव स्थल है। 'नारा' से उत्पन्न होने से नारायण का आश्रय जल है। उस बीज रूप ब्रह्मा दो भागों में विभक्त हुए- आकाश एवं पृथ्वी, साथ में दिशा-अन्तरदिशाएं, महत्तत्त्व, भौतिक रचना में- एकादश इन्द्रियाँ। तदनन्तर सृष्टिसंचालन जल से प्रारम्भ हुआ।[3]

अन्यत्र-सृष्टि रचना का आधार सत्-असत् एवं मन है।[4]

वस्तुतः प्रलयकाल में सृष्टि अन्धकारमय, सत्-असत् से विहीन, अज्ञात, निःशब्द थी।

---

१. नारायण परा वेदा देवा नारायणाङ्गजाः नारायणपरालोका नारायणपरामखाः। भा०पु०-२/५

२. कालकर्मस्वभावं च मायेशो मायया स्वया आत्मन् यदृच्छया विबुभूषुरुपाददे।। भा०पु०- २/५ पृ० २१-२२

३. तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः। मनु०-१,१३, पृ० १६-२२

४. उद्‌बबर्हाऽऽत्मनश्चैव मनः सदसदात्मकम्। मनसाचाऽयमहङ्कारमभिमन्तारमीश्वरम्। मनु० १-१४, पृ० २३

क्योंकि सृष्टि जल ही से व्याप्त थी। उस समय आकाश, पृथ्वी, वायु आदि कुछ भी नहीं था। एक ब्रह्म प्राणवायु से युक्त, अण्डाकार ब्रह्माण्ड जल में स्थित था। अण्डे के विच्छेदन से विराट्-पुरुष की उत्पत्ति होने से भौतिक प्रपंचात्मक शरीर की संरचना का वर्णन है।

अन्य मतानुसार सृष्टि का आधार आत्मा, प्राण, ईश्वरेच्छा, मधु आदि को बताते हुए कर्मो का संग्रह बीज सृष्टि रचना है।[5]

इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी सृष्टि रचना का आधार तत्त्व जल का वर्णन है। क्योंकि ब्रह्माण्ड विच्छेद के पश्चात् उत्पन्न विराट्-पुरुष ने संकल्प के द्वारा ही जल की सृष्टि की। इस तरह जल का एक नाम नार भी है। जल का आश्रय होने से विराट्-पुरुष नारायणरूप में जाने जाते हैं। ब्रह्माण्ड के तीन भाग किये- अधिदेव, अध्यात्म एवं अधिभूत। व्यासमुनि विराट्-पुरुष से सृष्टि की संकल्पनः करते हुए उन्हीं से सृष्टि क्रम का वर्णन करते है।[6]

अन्यत्र-ब्रह्मतत्त्व ने प्राकृतिक एवं भौतिक सृष्टि का स्वरूप प्रदान तो किया किन्तु उसके निमित्तमात्र साधन शरीर की रचना नहीं हुई। अतः ईश्वर से प्रेरित शक्ति का संगठित स्वरूप पिण्ड निर्जीव अवस्था में स्थित था। समय-चक्र द्वारा पिण्ड के विघटन से सहस्र अङ्गों से युक्त विराट्-पुरुष ही प्रजापति नारायण स्वरूप में समस्त लोकों में व्याप्त हुए। इस तरह सृष्टितत्त्व की रचना श्रीमद्भागवत में एक ब्रह्म से वर्णित है।[7]

विशेषतः श्रीकृष्ण द्वारा विवेचित सृष्टि-तत्त्व का वर्णन एकादश स्कन्ध में सांख्य-शास्त्र की दृष्टि से किया गया है। इसमें संख्यात्मक रूप से गणना अठाइस तक का वर्णन है।

-शोधार्थी, संस्कृत विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर। मोबाईल- ९१४०३६२८३९

५. अतीव कल्पावसाने निशासुप्तोत्थितः प्रभुः सत्त्वोद्रिक्त ब्रह्माशून्यं लोकमवैक्षत। आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं ते नारायणः स्मृतः। विष्णुपु० १-५, ३-६

६. पुरुषोऽण्डं विनिर्भिद्य यदासौ स विनिर्गतः। श्रीमद्भा०पु०- २-१०-१०-११

७. तामसाऽपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद् द्रष्टदृश्ययोः।। श्रीमद् भा० पु० २-५-२५-३२

अप्स्वन्तरमृतं, अप्सु भेषजम्।

ऋ. १. २३, १९

ऋग्वेद में ऋषि का कथन है कि जल में सभी प्रकार के रोगों को नष्ट करने की शक्ति है। जल ही अमृत है। जल में सभी ओषधियां का सार है।

महाकवि भवभूति का औचित्य-विवेक

– श्री कर्मवीर

संस्कृत-नाटककारों की गणना में भवभूति कालिदास के समकक्ष हैं। जहाँ महाकवि कालिदास कल्पना-कौशल से सत्य, शिव और सुन्दर को चित्रित करने में सफल हुए हैं। वहीं भवभूति अपनी प्रतिभा के वैशिष्ट्य से अलौकिक और अद्‌भुत अवतारणा कर विद्वज्जन के चित्त को आकृष्ट करने में सफल रहे।

महाकवि भवभूति के रूपकों में मालतीमाधव की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि ये विदर्भ प्रदेश के पद्‌मपुर के निवासी थे।[१] इनका प्रामाणिक काल ६८० ई. से ७५० ई. के बीच माना जाता है। इनके रूपकों में राजशास्त्र, आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा काव्यशास्त्र के उत्कृष्ट संकेत मिलते हैं। इन्होंने अपने रूपकों में स्वयं को 'पदवाक्यप्रमाणज्ञ'[२] (व्याकरण, मीमांसा, और न्यायशास्त्र का विद्वान्) कहा है।

भवभूति ने तीन रूपकों की क्रमशः रचना की- मालतीमाधव (शृंगार रस का प्रकरण),महावीररचित (वीररस का रामायणाश्रित नाटक) तथा उत्तररामचरित (करुण रस का नाटक)। इनमें से महावीरचरित व उत्तर-रामचरित में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम के पूर्व चरित व उत्तरचरित का वर्णन किया गया है। मालतीमाधव दस अंकों का कल्पना प्रसूत प्रकरण है। जिसमें विदर्भराज के मंत्री के पुत्र माधव तथा पद्‌मावती नरेश के मंत्री की पुत्री मालती की प्रणयकथा का नाटकीय निरूपण है। इन तीनों कृतियों में महाकवि के औचित्य के ज्ञान के संमुख कोई भी कवि 'महाकवि' की संज्ञा को प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि नाटक की रचना करते समय लेखक को औचित्य का विशेष ध्यान रखना चाहिए। औचित्य के सम्बन्ध में आचार्य धनञ्जय का मत द्रष्टव्य है।[३]

औचित्य का अभिप्राय यह है कि नाटककार को नाटक में प्रयुक्त विभिन्न श्रेणियों के पात्रों के लिए उनके कुल, शील, विद्वत्ता, आयु एवं परिस्थिति आदि का ध्यान रखकर उचित उक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' नामक नाट्‌यशास्त्रीय ग्रन्थ में औचित्य को लक्षित किया है।[४]

मालतीमाधव प्रकरण में पाँचवें अङ्क में अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला दोनों कापालिकों द्वारा जिन शब्दों में देवी चामुण्डा की वन्दना की गई है, वह औचित्य युक्त है।[५] इसी प्रकार नवम अंक में सौदामिनी द्वारा भी भवानीपति (शिव) की वन्दना की गई है।[६]

उक्त दोनों पद्यों में कापालिकों तथा सौदामिनी द्वारा अपने-अपने इष्ट की वन्दना की गई है। दोनों की पृथक्-पृथक् शब्दावली और भावों से औचित्य सिद्ध होता है। महावीरचरित के प्रथम अङ्क में ताडका-वध के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र के मुख से उद्‌धृत उक्ति उचित प्रतीत

१. मालतीमाधव-अङ्क-१, पृ.९.
२. उत्तररामचरित-अंक १ पृ.४.
३. ध्वन्यालोक-३/३२.
४. औचित्यविचारचर्चा- पृ.४.
५. मालतीमाधव-५/२२, पृ.१९३-१९५.
६. मालतीमाधव-९/४.

होती है तथा उसी अंक में धनुर्भङ्ग के पश्चात् राक्षस-दूत का कथन- 'अहो दुरात्मनो रामहतकस्य सर्वङ्कषः प्रभावः, भी सर्वदा उचित है। इसी प्रकार अपने मामा के प्रति भरत का वाक्य 'मातुल-मातुल। युक्तं सदृशमेतद्वो गृहस्य......।,[७] भी स्थिति के अनुरूप ही है। उत्तररामचरित के चतुर्थ अंक में जनक, कौशल्या, लव और अरुन्धती के संवाद में चारों पात्रों की उक्तियां प्रत्येक दृष्टि से सर्वथा उचित हैं।[८] इसी प्रकार अश्व को अपने सहपाठियों द्वारा खींचे जाने पर गुरुजनों के प्रति लव का कथन-

'आर्या! पश्यत,पश्यत एभिर्नीतोऽस्मि।'[९] तथा सैनिकों के चमकते हुए शस्त्रों को देखकर भय से व्याकुल बटुकों की उक्ति उनके अनुरूप ही है।[१०]

भवभूति के पात्रों ने आशीर्वाद देने में भी औचित्य का ध्यान रखा है। महावीरचरित के चतुर्थ अंक में अपना क्रोध शान्त होने पर परशुराम जब प्रस्थान करते हैं, तब वे उन्हें आशीर्वाद देते हैं।[११]

इस प्रकार इसी अंक में वन-गमन से पूर्व सीता को जिस प्रकार के आशीर्वाद की आवश्यकता थी, वैसा ही उन्हें ऋषियों से प्राप्त हुआ हैं।[१२]

मालतीमाधव प्रकरण में कामन्दकी द्वारा मालती के लिए अभीष्ट प्राप्ति का आशीर्वाद सर्वदा उचित है।[१३] उत्तररामचरित के अन्तिम अंक में सीता के लिए भगवती भागीरथी का आशीर्वाद- 'चारित्रोपचितां कल्याणसम्पदमधिगच्छ'[१४] भी समयानुकूल है। देवी अरुन्धती द्वारा विदेहराज जनक को दिए गए आशीर्वाद में औचित्य व्यक्त हो रहा है।[१५] पञ्चम अंक में चन्द्रकेतु को दिया गया सुमन्त्र का आशीर्वाद भी सर्वथा समयोचित है।[१६]

महाकवि भवभूति ने केवल आशीर्वाद ही नहीं अपितु सम्बोधन में भी ध्यान रखा है। उत्तर-रामचरित के प्रथम अंक में पिता और गुरुजनों के चले जाने पर सीता के लिए राम द्वारा प्रयुक्त सम्बोधन 'वैदेहि' सर्वथा उपयुक्त है। इसी प्रसङ्ग में कञ्चुकी प्रवेश कर कहता है- रामभद्रा!। इसी प्रकार राम मुख से 'एतानि ते सुपचनानि सरोरुहाक्षि कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि' सुनकर सीता कहती है - 'प्रियंवद! एहि' इस एक सम्बोधन में ही राम के कथन का पूरा उत्तर सन्निहित है।

चतुर्थ अंक में लव कहता है- 'नूनमाश्रमे-धिकोऽयमश्वः'।[१७] सभी बटु एक साथ पूछते हैं- कथं ज्ञायते ? ज्ञान से गौरान्वित लव कहता है- 'ननु मूर्खाः।' पठितमेव हि युष्माभिरपि-तत्काण्डम्'। लव का अपने मित्रों के प्रति यह भाव है- जो पढ़ लेने पर नहीं समझ सके वे मूर्ख ही हैं। 'शब्द' के औचित्य पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। उचित स्थान पर उचित शब्द का प्रयोग करना भवभूति की प्रतिभा का परिचायक है। महावीरचरित द्वितीय अंक में- येनैव खण्डपरशुर्भगवान्प्रचण्डश्चण्डीपतिः स्त्रिभुवनेषु गुरुः प्ररूढः' के अन्तर्गत 'प्रचण्ड' और

---

७. महावीरचरित- अङ्क-४, पृ. १८५
८. उत्तररामचरित-पृ. २६५-२८०
९. वही, पृ. २८२
१०. वही, पृ. २८९
११. महावीरचरित-४/३६
१२. वही, ४/३५
१३. मालतीमाधव-पृ. ८४
१४. उत्तररामचरित-अङ्क-७
१५. वही, अंक-४, पृ. २४७
१६. वही, ५/२७
१७. वही, पृ. २८५

'चण्डीपति:' का प्रयोग सराहनीय है। मालतीमाधव में सखे माधव! ललाटंतपस्तपति तपनस्तदस्मिन्नुद्याने मुहुर्मुहुरतिशाव:।[18] में 'तपन:' शब्द अपरिवर्तनीय है। उत्तररामचरित के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अंकों में राम के लिए 'राजा' शब्द का साभिप्राय प्रयोग अनेक पात्रों द्वारा किया गया है।[19]

इसी प्रकार चतुर्थ अंक में जनक ने भी- 'अहो रामस्य राज्ञ: क्षिप्रकारिता' में राम को राजा कहा है। विशेषण के औचित्य में भी भवभूति हस्तसिद्ध हैं-

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्या:पावनान्तरै:।[20]
राक्षस के मुख से राम के लिए 'दुरात्मा' का प्रयोग उचित प्रतीत होता है- 'अहो दुरात्मनो रामहतकस्य सर्वंकष: प्रभाव:।'[21]

नाट्यशास्त्र में नाम के औचित्य की ओर भी नाटककार का ध्यान आकर्षित किया गया है। भवभूति के द्वारा रचित कृतियों में भूरिवसु, कपालकुण्डला, कलहंस आदि नाम शास्त्र-सम्मत हैं। विशेष रूप से 'दुर्मुख' नाम कवि की औचित्य-दृष्टि का परिचायक है। भवभूति का मानना है कि वह चाहे कितना ही कर्त्तव्य-परायण हो, परन्तु जिसके मुख से 'वज्रपात' हुआ हो, उसे भद्रमुख कहना उचित नहीं हो सकता। रघुवंश में कालिदास ने उसे 'भद्र' नाम दिया है।[22]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने वचन के औचित्य का भी निर्देश किया है। भवभूति के उत्तररामचरित में वचनों का औचित्य भी द्रष्टव्य है। प्रथम अङ्क में अष्टावक्र के मुख से महर्षि वसिष्ठ का आशीर्वाद (सीता के लिए प्रेषित)[23] सुनकर राम कहते हैं- 'अनुगृहीता: स्म:।' यहां राम के बहुवचन शब्द का प्रयोग अनुचित नहीं माना जा सकता। वस्तुत: राम ने बहुवचन का प्रयोग इसलिए किया है कि उस आशीर्वाद से केवल राम और सीता ही नहीं अपितु समस्त परिवार अनुगृहीत हुआ है।

महाकवि भवभूति की नाट्य-रचनाओं में औचित्य के साथ अनौचित्य के भी कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं। नाट्यशास्त्र के अनुसार शयन और आलिङ्गन का रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन निषिद्ध है। परन्तु मालतीमाधव के षष्ठ अङ्क में मालती और माधव का आलिङ्गन[24] तथा मालती वेशधारी मकरन्द और माधव का आलिङ्गन[25] वर्णित है। इसी प्रकार सप्तम अङ्क में मालती वेशधारी मकरन्द तथा लवङ्गिका का शय्या पर शयन[26] का वर्णन अनौचित्य को दर्शाता है। कतिपय टीकाकार उत्तररामचरित के पञ्चम अङ्क में लव द्वारा की गई राम की आलोचना को अनुचित मानते हैं परन्तु सन्दर्भ को देखते हुए लव का वचन उचित प्रतीत होता है।

इस प्रकार लिखा जा सकता है कि महाकवि भवभूति औचित्य विवेक दृष्टि से सर्वथा एक महान् सफल नाटककार रहे हैं।

-शोधछात्र, वी.वी.बी.आई.एस. एण्ड आई. एस., साधु आश्रम, होशियारपुर।

१८. मालतीमाधव-पृ. ३३
१९. उत्तररामचरित-२, पृ. ९८; ३ पृ. १५०
२०. वही, १/१३
२१. महावीरचरितम्-अंक-१, पृ. ४९
२२. रघुवंश-१४/३१
२३. उत्तररामचरित- अंक-१, पृ. २०
२४. मालतीमाधव-पृ. २३४-२३५
२५. वही, पृ. २४९
२६. वही, अंक ७, पृ. २५६

संस्थान-समाचार

दान –

श्रीमती सन्तोष शर्मा ५०००/-
धर्मपत्नी डॉ. वेद प्रकाश शर्मा,
१४०, हवाईयां, मन्कोटा, यू.एस.ए.।

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा ११००/-
मंगल भवन, सिविल लाईन, होशियारपुर।

डॉ. वी.के. कपिला ११००/-
सीनियर चाईल्ड स्पैशलिस्ट,
सुतैहरी रोड़, होशियारपुर।

श्री वीरेन्द्र कुमार सूद ११००/-
मै. कैलाश चन्द्र, वीरेन्द्र कुमार,
खानपुरी गेट, होशियारपुर।

डॉ. भागेन्द्र सिंह ठाकुर १०००/-
निकट आई.टी.आई.
जोगेन्द्र नगर,
जिला मण्डी (हि.प्र.)

डॉ. अशोक सूद ३०००/-
कोतवाली बाजार,
होशियारपुर।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा ५००/-
मंगल भवन, सिविल लाईन,
होशियारपुर।

हवन-यज्ञ–

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के कार्य-दिवस का शुभारम्भ प्रतिसप्ताह के प्रथम दिन सत्संग-मन्दिर में हवन-यज्ञ से हुआ। जनवरी 2018 के द्वितीय रविवार को संस्थान के सत्संग-मन्दिर में परमपूज्य स्वामी सत्यानन्द जी महाराज के द्वारा चलाई गई परम्परानुसार उनके भक्तों के द्वारा अमृतवाणी का पाठ भी किया गया।

बधाई–

पंजाब विश्वविद्यालय पटल के डिप्टी लाइब्रेरियन डॉ. शिव कुमार वर्मा के सुपुत्र आयुष्मान् आशुतोष वर्मा का शुभ विवाह आयुष्मती आस्था के साथ दिनांक २२-१-१८ को होशियारपुर में सम्पन्न हुआ। इस शुभ अवसर पर संस्थान के सभी कर्मिष्ठों की ओर से बहुत-बहुत बधाई और शुभकामनाएं।

विविध-समाचार

भूतपूर्व चीफ जस्टिस स्व. डॉ. मेहरचन्द महाजन के नाम पर डाक टिकट

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर की कार्यकारिणी सभा के भूतपूर्व प्रधान, स्व. डॉ. मेहरचन्द महाजन के नाम पर भारत सरकार द्वारा उनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए डाक-टिकट जारी किया गया है। इस अवसर पर केन्द्रीय वित्तमन्त्री माननीय अरुण जेतली, मिनिस्टर ऑफ स्टेट फार कम्यूनिकेसन एण्ड रेलवे माननीय मनोज सिन्हा, मिनिस्ट्री आफ डिपैल्पमैंट आफ नार्थ-ईस्टन रीज़न डॉ. जितेन्द्र सिंह, डी.ए.वी. कॉलेज कमेटी के अध्यक्ष, आर्यरत्न डॉ. पूनम सूरी, डॉ. मेहरचन्द महाजन के सुपुत्र व डी.ए.वी. कॉलेज मैनेजिंग कमेटी के उपाध्यक्ष श्री प्रमोद महाजन तथा डी.ए.वी. स्कूल के चेयरमैन जस्टिस सी.के. महाजन उपस्थित थे।

कंप्यूटर पर ११ भाषाओं में गीता के श्लोक पढ़ें

गीता के ७०० श्लोकों को पढ़ना केवल संस्कृत तक ही सीमित नहीं रह गया है। इन श्लोकों को देवनागरी या संस्कृत के साथ ही अब ११ भाषाओं में भी पढ़ा जा सकता है। आईआईटी में कंप्यूटर साइंस विभाग के प्रोफेसर टीवी प्रभाकर ने डब्लूडब्लूडब्लू.गीतासुपरसाइट.आईआईटीके.एसी.इन वेबसाइट पर देवनागरी, बांग्ला, गुजराती, गुरुमुखी, कन्नड़, मलयालम, उड़िया, रोमन, तमिल, असमिया व तेलुगु भाषा में गीता के श्लोक अपलोड किए हैं। इन श्लोकों को देखा एवं सुना भी जा सकता है।

इन श्लोकों को पद्मावती महिला यूनिवर्सिटी तिरुपति की प्रोफेसर वारमलक्ष्मी, आईआईटी गुवाहाटी के प्रोफेसर देवानंद पाठक व स्वामी ब्रह्मानंद ने अपनी आवाज दी है। इस वेबसाइट पर इन श्लोकों का भावार्थ अंग्रेजी में सुना जा सकता है। जल्द ही हिंदी में भी भावार्थ सुना जा सकेगा। गीता के अतिरिक्त रामचरितमानस, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, वाल्मीकि रामायण व योगसूत्र को भी वेबसाइट पर पढ़ा जा सकता है।

चरित्रनिर्माण द्वारा ही पथ-भ्रष्ट हो रहे आज के भारतवर्ष का जीर्णोद्धार सम्भव है।

भाजपानेत्री एवं पंजाब की पूर्वमन्त्री आदरणीया श्रद्धेया **लक्ष्मीकान्ता चावला जी** द्वारा दैनिक जागरण के २० दिसंबर, २०१७ के अंक में प्रकाशित **सदविचार:-**

''साहित्य, विज्ञापन, टी.वी., सिनेमा इत्यादि के जरिये अश्लीलता फैला कर युवाओं को पथभ्रष्ट करने वालों को रोक कर ही हमारा विकास सम्भव है।''

यह सुविचार हमें बहुत पहले ही परमपूज्य पिता सुप्रसिद्ध देशभक्त स्वतन्त्रता-सेनानी पण्डित दुर्गादास जी से सुनने को मिले थे। जो आचार्य विश्वबन्धु के सहयोगी संस्थान के परमहितैषी तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान के कार्यकारिणी के सदस्य, पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय जी द्वारा स्थापित लोक-सेवक-मण्डल की स्थानीय शाखा के संस्थापक प्रधान स्वर्गीय **पंडित दुर्गादास जी (बैंक वाले)** थे।

प्रयोजक

समस्त परिवार/विनीत बच्चे

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा (सुपुत्र)

मंगल भवन

न्यू सिविल लाइन्स, होशियारपुर।

चरित्रनिर्माण द्वारा ही पथ-भ्रष्ट हो रहे आज के भारतवर्ष का जीर्णोद्धार सम्भव है।

भाजपानेत्री एवं पंजाब की पूर्वमन्त्री आदरणीया श्रद्धेया **लक्ष्मीकान्ता चावला जी** द्वारा दैनिक जागरण के २० दिसंबर, २०१७ के अंक में प्रकाशित **सदविचारः-**

मेरा मानना है कि समाज का वातावरण संतजनों को, समाज सुधारकों को, शिक्षा जगत् को ऐसा बनाना होगा जिससे बचपन में ही बच्चों को ऐसे संस्कार दिए जाएं जो उन्हें चरित्रवान् बनाएं।

समाज में बढ़ते हुए अपराधों के लिए उन्हें भी दण्ड देना चाहिए जो साहित्य, विज्ञापन, टी.वी., सिनेमा इत्यादि के जरिए अश्लीलता फैलाकर युवाओं को पथभ्रष्ट करते हैं। क्या विज्ञापनों की कमाई के बिना सरकार की गाड़ी नहीं चलती या अश्लीलता परोसे बिना टी.वी. चैनलों की चमक नहीं बनी रहती। मेरा निवेदन इस देश के शिक्षा--शास्त्रियों से है कि वे शिक्षा को चरित्र से जोड़ें, धर्मगुरुओं से निवेदन है कि वे केवल मोक्ष, मुक्ति और स्वर्ग का रास्ता न बताएं, अपने समाज को स्वस्थ और चरित्रवान् बनाएं या बनाने के उपाय भी करें। विकास की परिभाषा में चरित्र-निर्माण भी जोड़ें। नशामुक्त समाज हो, अपराध मुक्त समाज बने। कवियों ने वर्षों पहले लिखा था- हम कौन थे, क्या हो गए ?

अभी संभलें तो अच्छा है, नहीं तो यह सोचना पड़ेगा। ये सुविचार हमें बहुत पहले ही परमपूज्य पिता जी सुप्रसिद्ध देशभक्त, स्वतन्त्रता-सेनानी पं. दुर्गादास जी से सुनने को मिले थे।

प्रयोजक

समस्त परिवार/विनीत बच्चे

श्री वीरेन्द्र कुमार शर्मा (सुपुत्र)

मंगल भवन

न्यू सिविल लाइन्स, होशियारपुर।

विश्व-ज्योति (हिन्दी मासिक पत्रिका)
पंजाब में रचित राम-साहित्य (विशेषांक अप्रैल-मई , जून-जुलाई)

मान्यवर विद्वद्वर्य

आपको नववर्ष सपरिवार मंगलमय हो।

मुझे विश्वास हैकि आप विश्वज्योति पत्रिका से केवल परिचित ही नहीं अपितु इस पत्रिका के द्वारा आप अपने विचारों को हिन्दी-प्रेमियों तक पहुँचाते भी रहे हैं। यदि इससे पहले ऐसा संभव नहीं हुआ तो आप अब भी अपने विचार इस पत्रिका के माध्यम से पाठकों तक पहुँचा सकते हैं।

विश्वज्योति वैसे तो मासिक पत्रिका है पर हर वर्ष इसके दो विशेषांङ्क किसी एक विषय को आधार बनाकर प्रकाशित किए जाते हैं। विषय प्रतिवर्ष नूतन होता है। विश्वज्योति के सम्पादक मण्डल द्वारा इस वर्ष **''पंजाब में रचित राम-साहित्य''** विषय पर विशेषांक प्रकाशित करने का निश्चय किया गया है। सम्पादक मण्डल का मानना था कि मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम का जीवन प्रत्येक मनुष्यके जीवन को सुख-शान्ति प्रदान करने वाला है। विशेष कर आज के बदलते युग के लिए तो वह एक अद्वितीय प्रेरणाप्रद है। भगवान् राम की जीवनगाथा इतनी पुरानी है कि महर्षि वाल्मीकि जी को भी जनता में प्रचलित उनकी जीवनी से बहुत कुछ मिला। उन्हीं भगवान् राम के विषय में पंजाब में जो कुछ लिखा गया उससे जनता को परिचित कराने को आपसे निवेदन किया जा रहा है। पंजाब में रचित राम साहित्य केवल राम के विषय में ही नहीं अपितु श्रीराम परिवार के विषय में भी समझा जाना चाहिए। वह परिवार राजा दशरथ से लेकर लव-कुश तथा उससे आगे भी यदि कोई जानकारी हो तो उसको भी समझा जायेगा। रामायण में वर्णित पात्रों तथा पंजाब मे वर्णित कुछ स्थान-विशेष भी इस विषय अन्तर्गत ही समझे जाएंगे । इस विषय से संबंधित लेख चाहे पंजाबी में हों संस्कृत में हो या हिन्दी में अथवा अन्य किसी भी भाषा में हों सभी कुछ राम साहित्य के अन्तर्गत ही समझे जायेंगे।

अतः आप से निवेदन है कि इस विषय को आधार मानकर अपना लेख भेजकर कृतार्थ करें।

१. लेख मौलिक हो। आक्षेप रहित हों।

२. संदर्भ के रूप में अति आवश्यक संस्कृतपद्य लेख के मध्य में न दिए जायें। अच्छा होगा कि उनका अनुवाद देकर फुटनोट नीचे दे दें।

३. लेख अधिक से अधिक ५-६ पेज का हो।

४. शोध-छात्र तथा छात्राओं से भी निवेदन है कि वे भी इस का विशेष ध्यान रखें।
सुविधाओं के लिए कुछ - एक शीर्षक दिए जा रहे हैं। पर आप इस के लिए बाध्य नहीं हैं आप स्वयं भी किसी विचारित शीर्षक पर लेख भेज सकते है।

संचालक/सम्पादक

विशेषांक के लिए संभावित विषय

१. स्वर्गीय रामलुभाया दिलशाद और उनकी पंजाबी रामायण
२. श्री गुरु गोविन्दसिंह जी के रामावतार में राम
३. पंजाब में रचित राम-साहित्य
४. पंजाबरचित राम-साहित्य का समाज पर प्रभाव
५. पंजाब रचित रामसाहित्य का वैशिष्ट्य
६. श्री राम से संबधित पंजाब के स्थान-विशेष
७. पंजाब में रचित साहित्य में कैकेयी से संबधित स्थान-विशेष
८. पंजाब में रचित राम साहित्य में कोशल देश का अस्तित्व
९. महर्षि वाल्मीकि से संबधित पंजाब के स्थान-विशेष
१०. बृहत्तर पंजाब में रचित राम-साहित्य
११. पंजाब में लिखित राम-साहित्य में राम का चरित्र
१२. पंजाब रचित राम-साहित्य में नारी
१३. पंजाब से लव-कुश का सम्बन्ध
१४. पंजाब रचित राम-साहित्य में श्री राम का मर्यादित चरित्र
१५. पंजाब रचित राम-साहित्य और बाल्मीकि रामायण की तुलना
१६. पंजाब रचित राम साहित्य और रामायण के पात्रों का तुलनात्मक चरित्र-चित्रण
१७. पंजाब रचित राम-साहित्य में भक्त हनुमान् का वर्णन
१८. पंजाब रचित राम साहित्य में सीता जी का चरित्र
१९. पंजाब रचित राम-साहित्य में भ्रातृप्रेम।
२०. पंजाब रचित राम-साहित्य का भक्तिकालीन साहित्य से तुलना
२१. पंजाब रचित राम-साहित्य का साहित्यिक अध्यायन

(संस्थान) सत्संग मन्दिर

वी. वी. आर. आई. सोसाईटी, होश्यारपुर (पंजाब) की ओर से प्रकाशक व मुद्रक प्रो. इन्द्रदत्त उनियाल द्वारा वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट प्रैस, पो. आ. साधु-आश्रम, होश्यारपुर से छपवा कर, वी. वी. आर. इन्स्टीच्यूट, पो. आ. साधु-आश्रम, होश्यारपुर-१४६ ०२१ (पंजाब) से २८-०१-२०१८ को प्रकाशित।